ISSN: 0971-8478

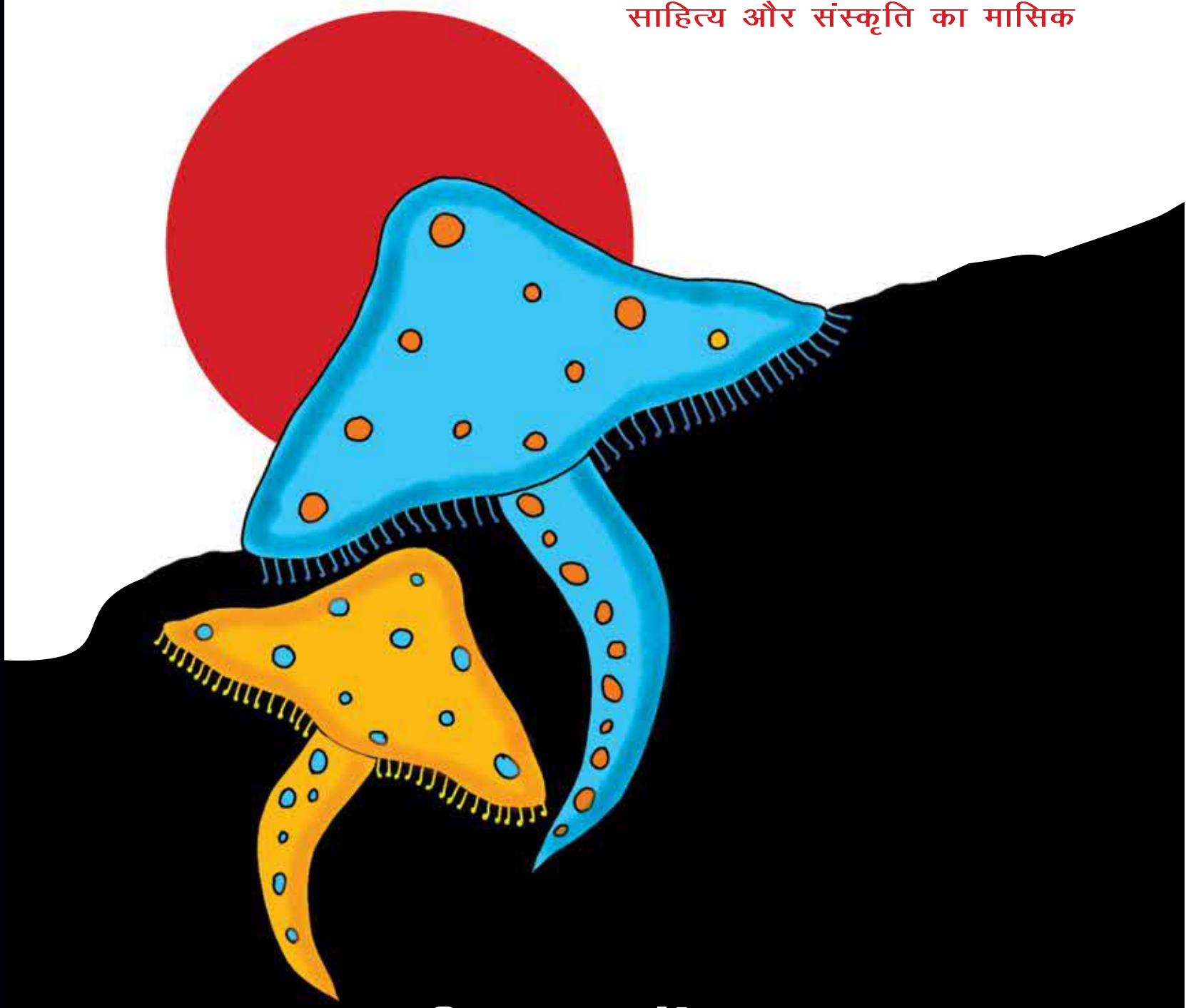
जनवरी 2023

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक



शताब्दी स्मरण : रांगेय राघव



योजना
विकास को समर्पित मासिक
(हिंदी, अँग्रेज़ी, उर्दू व 10 अन्य भारतीय भाषाओं में)

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

कुरुक्षेत्र
ग्रामीण विकास पर मासिक
(हिंदी और अँग्रेज़ी)

आजकल
साहित्य एवं संस्कृति का मासिक
(हिंदी तथा उर्दू)

बाल भारती
बच्चों की मासिक पत्रिका
(हिंदी)

घर पर हमारी पत्रिकाएँ मंगाना है काफी आसान...

आपको सिर्फ नीचे दिए गए 'भारत कोश' के लिंक पर जा कर पत्रिका के लिए ऑनलाइन डिजिटल भुगतान करना है-
https://bharatkosh.gov.in/Product/Product

सदस्यता दरें

प्लान	योजना या कुरुक्षेत्र या आजकल		बाल भारती	
वर्ष	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ
1	₹ 230	₹ 434	₹ 160	₹ 364

ऑनलाइन के अलावा आप डाक द्वारा डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर से भी प्लान के अनुसार निर्धारित राशि भेज सकते हैं। डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल ऑडर या मनीआर्डर '**अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय**' के पक्ष में **नई दिल्ली** में देय होना चाहिए।

अपने डीडी, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर के साथ नीचे दिया गया 'सदस्यता कूपन' या उसकी फोटो कॉपी में सभी विवरण भरकर हमें भेजें। भेजने का पता है-
संपादक, पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कक्ष सं. 779, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

अधिक जानकारी के लिए ईमेल करें- pdjucir@gmail.com

हमसे संपर्क करें- **फोन : 011-24367453** (सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर प्रात: साढ़े नौ बजे से शाम छह बजे तक)

कृपया नोट करें कि सदस्यता शुल्क प्राप्त होने के बाद सदस्यता शुरू होने में कम से कम आठ सप्ताह लगते हैं। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें और पत्रिका न मिलने की शिकायत इस अवधि के बाद करें।

सदस्यता कूपन (नई सदस्यता/नवीकरण/पते में परिवर्तन)

कृपया मुझे 1 वर्ष के प्लान के तहत ..... पत्रिका ..... भाषा में भेजें।

नाम (साफ व बड़े अक्षरों में) .....

पता : .....

..... ज़िला ..... पिन .....

ईमेल ..... मोबाइल नं. .....

डीडी/पीओ/एमओ सं. ..... दिनांक ..... सदस्यता सं. .....

इस अंक में

शताब्दी स्मरण : रांगेय राघव

अल्प जीवन में महाजीवन : **सुरेश सलिल** 6

'पप्पू' अर्थात अजाना रांगेय राघव : **महेश दर्पण** 8

संस्मरण : पुनः : **सुलोचना रांगेय राघव** 11

स्मरण : पिता को याद करते हुए : **सीमन्तिनी राघव** 12

आम आदमी का ख़ास कहानीकार : **धर्मेन्द्र प्रताप सिंह** 13

कहानी : धर्म-संकट : **रांगेय राघव** 16

रांगेय राघव की अप्रकाशित कविताएँ 19

श्रद्धांजलि

आलोचना में सच कहने का साहस : **ओम निश्चल** 28

जन्मदिवस पर विशेष

मैं अंत तक कवि रहना चाहता हूँ (बातचीत) : **मनोज मोहन** 35

ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में शहर : **कुमार मंगलम** 38

कहानी

भाषांतर : बतुकम्मा का जन्म : **चन्दु तुलसी** 20

जो घर जारे आपना... : **टेकचन्द** 31

इस माह 75 वर्ष पूर्व

रोमनी : **राहुल सांकृत्यायन** 43

कविताएँ/ग़ज़लें

भाषांतर : दो उड़िया कविताएँ : **ईप्सिता षडंगी** 23

चार कविताएँ : **अशोक वाजपेयी** 36

चार ग़ज़लें : **ज्ञानप्रकाश विवेक** 24

दो कविताएँ : **अरुण शीतांश** 25

तीन कविताएँ : **शिवकुमार निखिलेश** 26

तीन कविताएँ : **गोलेन्द्र पटेल** 27

पत्रिका आजकल

युगीन संवेदना को अभिव्यक्त करती पत्रिकाएँ : **राकेश कुमार सिंह** 44

मूल्यांकन

सामन्तवाद के बदलते स्वरूप में मानवीय संवेदनाओं.... : **चन्द्रकला** 48

हिन्दी साहित्य और सिनेमा के दो गुलफ़ाम : **इंद्रजीत सिंह** 50

भरोसा बचाने की कोशिश करती कविताएँ : **रोहित कौशिक** 51

कविता रहेगी उसके स्वप्न की तरह : **जीवन सिंह** 53

तरल संवेदनाओं की कविताएँ : **पराग मांदले** 55

पुस्तक परिचय

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास (खण्ड-2) : **ऋतुश्री** 58

युवा संन्यासी : **शुभ्रा सिंह** 58

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 60

आजकल स्थापित 1945

वर्ष : 78, अंक : 9
पूर्णांक : 932
जनवरी, 2023
पौष-माघ : 1944

प्रधान सम्पादक
राकेशरेणु

सम्पादक
फरहत परवीन

सम्पादन सहयोग
शुभ्रा सिंह

आवरण चित्र : **अनुप्रिया**
आवरण सज्जा : **बिन्दु वर्मा**
रेखाचित्र : **सिद्धेश्वर**

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार
सम्पादक
आजकल
प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड
नई दिल्ली-110003
दूरभाष : 011-24362915
ई-मेल : ajkalhindi@gmail.com
website : www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक : www.facebook.com/publicationsdivision
ट्विटर : @DPD_India
इंस्टाग्राम : @dpd_india

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
डी.के.सी. हृदयनाथ

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 434 रुपये
(रजिस्टर्ड डाक से)

पत्रिका न मिलने की शिकायत अथवा **आजकल** की सदस्यता लेने या पुराने अंक मँगाने के लिए pdjucir@gmail.com पर ईमेल करें या सम्पर्क करें-
दूरभाष : 011-24367453

सदस्यता सम्बन्धी पत्राचार का पता
अभिषेक चतुर्वेदी, सम्पादक (प्रसार),
पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग,
कमरा नं. 779, सूचना भवन,
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003

हमारे विक्रय केन्द्र : नई दिल्ली : सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ :** हॉल नं.1, दूसरी मंजिल, केन्द्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता :** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना :** बिहार : रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुम्बई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंज़िल, केन्द्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरु :** एफ़ विंग, केन्द्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **अहमदाबाद :** 4-सी, नेपच्यून टॉवर (एच.पी. पेट्रोल पम्प के निकट), नेहरू ब्रिज कॉर्नर, आश्रम रोड, दूरभाष : 079-26588669, **हैदराबाद :** कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादिगुडा-500080, **चेन्नई :** राजाजी भवन, एनी बेसेन्ट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनन्तपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650



साक्षात्कार ने आकर्षित किया

नवम्बर, 2022 का अंक पढ़ा। शेखर जोशी का साक्षात्कार विशेष ध्यान आकर्षित करता है। याद आता है जब मुझे दिल्ली में रमाकांत स्मृति सम्मान से 'प्रसंगहीन' कहानी के लिए नवाज़ा गया था तो शेखर जोशी सपत्नीक कार्यक्रम में आए थे और कार्यक्रम के बाद कन्धे पर हाथ रखकर कहा था, "तुम बहुत बढ़िया बोले"। सम्बन्धों का निर्वाह करना वे जानते थे। इसी तरह ज्ञानरंजन पर जो लेख छपा है, उससे अच्छा होता आप उनका साक्षात्कार लेते। इससे उनकी रचनात्मकता और निखरकर पाठकों तक आती। 'चाय' पर जो कविताएँ छपी हैं वे अद्‌भुत हैं।

-अजय प्रकाश नैनी, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

सार्थक मूल्यांकन

नवम्बर, 2022 अंक प्रसिद्ध कथाकार ममता कालिया पर केन्द्रित कर उनका सार्थक मूल्यांकन किया गया है। मैं ममता कालिया को तब से जानता हूँ, जब वे ममता अग्रवाल के नाम से कहानियाँ लिखती थीं। ममताजी को लोग कथा-लेखिका, उपन्यासकार के नाम से जानते हैं लेकिन कम लोग जानते हैं कि वे अकविता के दौर की चर्चित कवयित्री भी रही हैं। उन दिनों उनकी चर्चित कविता 'निकष' 'कविता' के मुख्य पृष्ठ पर लक्ष्मीकान्त वर्मा ने छापी थी। 70 के दशक में उनका 'बेघर' उपन्यास बेहद चर्चित हुआ था।

-विवेक सत्यांशु, अल्लापुर, प्रयागराज

लोकप्रिय बाल-विज्ञान लेखक

नवम्बर, 2022 अंक में 'हिन्दी बाल साहित्य के यक्ष प्रश्न' (समीर गांगुली) पढ़ने को मिला। यह लेख जिस बेबाकी के साथ लिखा गया है, इसके लिए मैं अपनी ओर से लेखक और सम्पादक दोनों को साधुवाद देना चाहूँगा!

बाल साहित्य के मैदान में जहाँ चारों ओर जगह-जगह, अलग-अलग तम्बू गड़े हों और 'तुम मुझे पूजो, मैं तुम्हें'... की प्रथा ज़ोर-शोर से निभाई जा रही हो, इस तरह के लेख अनियंत्रित होती रचनात्मकता पर चाबुक-सा प्रहार करेंगे, इसमें कोई संशय नहीं। वर्तमान स्थिति का सच्चाई के साथ आकलन किसी-न-किसी को तो करना ही होगा और उसी का उत्तर है यह लेख जो न जाने बाल साहित्य के कितने आलोचकों, समीक्षकों और लेखकों को बेहद तल्ख़ अनुभव देगा और कितनों की बेचैनी बढ़ा देगा क्योंकि इस लेख में बाल साहित्यकारों की मंशा और नियत पर उठाए गए सवाल बेहद वाजिब और माक़ूल हैं।

इस लेख में काफ़ी कुछ समेटने का प्रयास हुआ है और वैसे भी कोई कथन कभी सम्पूर्णता नहीं ले सकता, कुछ - न - कुछ रह ही जाता है परन्तु किसी विशेष बिन्दु पर विचार करते हुए जब इसमें सम्बन्धित सामान्य उदाहरणों की प्रस्तुति तो की जाए लेकिन इसी क्षेत्र के विशेष उदाहरण उपेक्षित रह जाएँ तो यह अपूर्णता लेख को कमज़ोर कर देती है, ऐसा मेरा मानना है। इस लेख में बाल साहित्य के क्षेत्र में 'पराग' और 'शकुन' जैसे प्रकाशनों का जिस सन्दर्भ में ज़िक्र आया है वहाँ रोचकता से परिपूर्ण ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अत्यंत उपयोगी साहित्य को अपने प्रबल प्रसार-प्रचार तन्त्र के साथ-साथ देशभर में वी.पी.पी. के द्वारा 80-90 के दशकों में भी आज के आधुनिकतम 'पे ऑन डिलीवरी' जैसे तरीक़े का पहली बार उपयोग करते हुए इच्छुक बाल पाठकों के दरवाज़े तक सफलतापूर्वक पहुँचाने वाले 'पुस्तक महल' के नाम का उल्लेख न होना, विषय के प्रति लेखन की गम्भीरता को कम करता है या फिर यह भी हो सकता है कि लेखक इस प्रकार के लेखन को साहित्य में शामिल ही न मानता हो और वह भी वर्तमान आम धारणा के तहत केवल कविता-कहानी को ही साहित्य के दायरे में स्वीकारने का पक्षधर हो।

अगर ऐसा है तब भी उसका अपना यह कथन "यह कटु सत्य है कि हिन्दी-भाषी बच्चों की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली बाल कहानियों (इसमें बाल कविताएँ और दूसरी सामग्रियाँ भी शामिल हैं) में कोई दिलचस्पी नहीं है", एक अधूरा सत्य प्रस्तुत करता हुआ लगता है क्योंकि मेरा सारा लेखन ही इस दूसरी क़िस्म की सामग्रियों पर आधारित रहा है जिसे देशभर के बच्चों ने स्वीकारा, सराहा और इतना असीम स्नेह दिया जो सामान्यतः किसी लेखक के लिए दुर्लभ उपलब्धि है।

अस्तु, लेखन के माध्यम से ऐसी चर्चाओं में कुछ छूट जाना, कुछ रह जाना कोई बहुत अस्वाभाविक नहीं है पर जो भी हो, संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि ऐसे सार्थक लेख अपेक्षित तो हैं ही, स्वागत और प्रशंसायोग्य भी हैं, इसमें कोई संशय नहीं।

-आइवर यूशिएल, बरेली (उत्तर प्रदेश)

बाली शिखर सम्मेलन में भारत को मिली जी-20 की अध्यक्षता

इंडोनेशिया के बाली में आयोजित जी-20 शिखर सम्मेलन में इंडोनेशियाई राष्ट्रपति ने जी-20 की अध्यक्षता भारत को सौंपी। यह अध्यक्षता औपचारिक रूप से 1 दिसम्बर से शुरू हो गई है। भारत ऐसे समय में इस संगठन का अध्यक्ष बना है जब दुनिया भूराजनैतिक तनावों, आर्थिक मंदी, खाद्य और ऊर्जा की बढ़ती कीमतों और कोविड-19 की वैश्विक महामारी के दीर्घकालिक प्रभावों से जूझ रही है। शिखर सम्मेलन में जी-20 के देशों ने मौजूदा टकरावों और तनावों की वजह से ज़्यादा गंभीर हो गई वैश्विक खाद्य सुरक्षा पर चुनौतियों को लेकर गहरी चिन्ता जताई। उन्होंने ज़िन्दगियों को बचाने तथा भूख और कुपोषण रोकने के लिए तुरन्त उपाय करने की प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। सदस्य देशों ने शिखर सम्मेलन के घोषणापत्र में संवहनीय और मज़बूत कृषि और खाद्य प्रणालियों तथा आपूर्ति शृंखलाओं की ओर तेज़ परिवर्तन का आह्वान किया। घोषणापत्र में वैश्विक खाद्य संकट के समाधान के सभी उपलब्ध तरीकों का इस्तेमाल कर सबसे ज़्यादा कमज़ोर तबक़ों को भूख से बचाने के लिए प्रतिबद्धता व्यक्त की गई। इसमें कहा गया है कि रूस और यूक्रेन के बीच टकराव से वैश्विक अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा है।



प्रसंगवश

जनता के मनोभावों को प्रभावित करने वाले सामाजिक और ऐतिहासिक कारक होते हैं। ये कारक लोगों की जीवन स्थितियों से निर्मित होते हैं। किसी भी पराधीन समाज की जीवन स्थितियों की कल्पना करना बहुत मुश्किल नहीं है। हमारे हालिया इतिहास से इसे समझा जा सकता है। अपने अनुभव से हम यह जानते हैं कि किसी भी पराधीन देश के नागरिकों की सबसे बड़ी हानि उसके आत्मसम्मान की होती है। आत्मसम्मान की रक्षा का भाव नागरिकों को संगठित करता है, उनमें परस्पर एकता स्थापित करता है और उनके बीच मुक्तिकामी स्वर अंकुरित होते हैं। यह प्रक्रिया दो स्तरों पर चलती है— पहली, साहित्य और विविध कला विधाओं के स्तर पर और दूसरी, ज़मीनी स्तर पर यानी सक्रिय सामाजिक-राजनैतिक आंदोलन के स्तर पर। मनुष्य के भीतर स्वाधीनता की इच्छा तभी पैदा होती है जब उसे यह बोध हो जाए कि वह पराधीन है, दूसरे के नियंत्रण में है। और, जब यह बोध जागृत होता है तो मुक्ति की कामना कई-कई रूपों में प्रकट होती है। इस लिहाज़ से 1857 की क्रान्ति आधुनिक भारतीय इतिहास में मील का पत्थर है। इससे पता चलता है कि सन् '57 से पहले देश में सामाजिक, वैचारिक और राजनैतिक स्तर पर पराधीनता से मुक्ति की इच्छा और साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना विकसित हो चुकी थी; साहित्य में वह प्रतिबिम्बित भी होने लगी थी। इस सन्दर्भ में अज़ीमुल्ला ख़ाँ द्वारा रचित 'पयामे आज़ादी' शीर्षक कविता, जिसे उर्दू में 'तराना' कहते हैं, का उल्लेख ज़रूरी है। यह कविता 1857 से पहले लिखी गई थी। 'पयामे आज़ादी' एक तरह से 1857 की क्रान्ति का घोषणापत्र है। अज़ीमुल्ला ख़ाँ सत्तावन की क्रान्ति के सूत्रधारों में से एक थे। इस कविता को पढ़कर सन् सत्तावन की क्रान्ति की पृष्ठभूमि और परिस्थितियों को बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है। कविता की शुरुआती पंक्ति ही है- 'हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा।' इस कविता के ज़रिए अज़ीमुल्ला ख़ाँ क्रान्ति का उद्घोष करते हैं, देश की सीमाओं और खूबियों का बयान करते हुए एकता की अपील करते हैं। इसके मार्फ़त हिन्दी साहित्य में पहली बार राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष होता है। इसकी पंक्तियाँ जिस गौरव बोध और अधिकार भाव से कही गई हैं, वह प्रमाण है कि राष्ट्रीय चेतना के निर्माण की यह पहली कविता है। इस कविता में क़ौमी एकता का राग है जो उस समय जितना ज़रूरी रहा होगा उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरी आज प्रतीत होता है।

यहाँ यह भी बताता चलूँ कि 'पयामे आज़ादी' नाम से दिल्ली से एक उर्दू अख़बार भी निकलता था। सन् सत्तावन की क्रान्ति के दौरान इस अख़बार ने भी बड़ी अहम भूमिका निभायी थी। इसके सम्पादक मिर्ज़ा बाक़र थे जो मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के क़रीब थे। उन्होंने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी चेतना जगाने में गहरी भूमिका निभाई और इसका हासिल यह हुआ कि जब 1857 के विद्रोह पर अंग्रेज़ों ने क़ाबू पा लिया तो बाक़र मिर्ज़ा को पकड़ कर पेड़ से लटका दिया गया और गोली मार दी गई। तलाशी के दौरान जिन-जिन घरों में यह अख़बार पाया गया, उन घरों के बाशिंदों पर अकथनीय जुल्म ढाया गया। ऐसा ही एक दूसरा अख़बार 'दिल्ली उर्दू अख़बार' था जिसका वही हश्र हुआ जो 'पयामे आज़ादी' नामक अख़बार का हुआ था।

लेकिन इससे न तो अख़बार निकालने का जज़्बा कम हुआ, न ही उनकी भूमिका कमज़ोर हुई बल्कि 1857 की क्रान्ति को दबाए जाने के बाद यह और बलवती होकर उभरी। कहना चाहिए कि 1857 की क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी गीतों की रचना की एक लहर-सी चल पड़ी थी और यह लहर केवल हिन्दी में ही नहीं थी। तमाम भारतीय भाषाओं में क्रान्तिकारी कविताएँ, गीत और दूसरे साहित्य लिखे जा रहे थे। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में अख़बारों ने देश के राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं को परस्पर विचार-विनिमय में सहयोग दिया। राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में निबन्धों, उपन्यासों और देशभक्ति से ओत-प्रोत गीतों, कविताओं, तरानों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लोग इन गीतों को सुन-पढ़कर आंदोलित हो उठते थे। परिणामस्वरूप अंग्रेज़ी हुकूमत ने बड़ी तादाद में ऐसे गीतों और रचनाओं को ज़ब्त कर लिया, लेकिन ज़ब्त तो केवल प्रकाशित साहित्य किया जा सकता है। ये गीत जन-जन की ज़ुबान पर चढ़ चुके थे। लोग उन्हें घरों में, समूह में गाते और क्रान्तिकारी उन्हें गाते हुए फाँसी के फंदे चूम लेते थे। जिन रचनाकारों की कविताएँ ज़ब्त हुईं उसमें हसरत मोहानी, राम प्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ, सरदार नौबहार सिंह, साबिर टोहानी, कुँवर प्रतापचन्द्र आज़ाद, टीकाराम सुखन, ब्रज नारायण चकबस्त, किसन चन्द्र ज़ेबा, इन्द्रजीत शर्मा, जोश मलीहाबादी, जानिसार अख़्तर, सैयद एहतेशाम हुसैन रिज़वी आदि सैकड़ों नाम हैं। और, भले मैं कितने भी नाम ले लूँ, यह सूची पूरी नहीं होगी। कुछ नाम छूट ही जाएँगे। वस्तुतः बहुत से रचनाकारों ने तो अपने गीतों में नाम ही नहीं दिए हैं।

राष्ट्रीय अभिलेखागार के रिकॉर्ड के अनुसार, 451 क्रान्तिकारी गीतों की किताबें ज़ब्त की गई थीं जिनमें 264 अकेले हिन्दी की किताबें थीं। उनके लेखकों-प्रकाशकों को जेलों में भर दिया। जनसाधारण को भी तरह-तरह की यातनाएँ दी गईं लेकिन विदेशी सरकार के विरोध और आज़ादी की माँग का यह सिलसिला रुका नहीं।

गीतों, कविताओं और समग्र साहित्य ने भारतवासियों को इस मानसिक ग़ुलामी से निकलने, खुद को आज़माने और इस तरह स्वाधीनता हासिल करने के लिए प्रेरित किया। इस मानसिक ग़ुलामी ने ही स्त्रियों को ग़ुलामों का ग़ुलाम बना दिया था। स्त्रियों की यह ग़ुलामी युगों से चली आई है और इसके केन्द्र में अज्ञान है। 'शृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा इसे रेखांकित करते हुए कहती हैं, 'जिसने हमें दासता की संकीर्ण कारा में निर्वासन दे डाला है वह हमारा नागरिकता विषयक अज्ञान कहा जा सकता है।' इसलिए साहित्य का काम अभी ख़त्म नहीं हुआ है। 1947 में राजनैतिक आज़ादी तो हमें मिल गई लेकिन स्त्रियों सहित समाज के अनेक तबक़ों को व्यावहारिक आज़ादी मिलना अभी बाक़ी है। और जब तक यह हो नहीं जाता, साहित्य का काम बचा रहेगा।

● शताब्दी स्मरण



अल्प जीवन में महाजीवन

सुरेश सलिल

विगत सदी के प्रारम्भिक दशकों में एक बड़े बाप ने, भविष्य में 'बड़ी' बनने वाली, अपनी एकमात्र सन्तान (बेटी) को दुनिया के इतिहास और पुरातत्त्व की जानकारी देने के इरादे से अंग्रेज़ी में एक किताब लिखी थी- 'फ़ादर्स लेटर्स टु हिज़ डॉटर'। सुलोचना रांगेय राघव की पुस्तक 'रांगेय राघव : एक अंतरंग परिचय' उसी परम्परा को सदी के अंतिम छोर तक लाती है। फ़र्क़ यह है कि इसे हिन्दी में लिखा गया है और इसकी लेखिका, जवाहरलाल नेहरू जैसे सुख्यात और साधन-सम्पन्न पिता के बरक्स, अनाम-सी रहती आई, संघर्ष और संकल्प की प्रतिमूर्ति, एक लेखक-पत्नी और माँ हैं। सुलोचनाजी के भीतर सुरक्षित उसी पत्नी और माँ ने दो लम्बे पत्रों के माध्यम से अपनी एकमात्र सन्तान (बेटी) को उसके पिता, अपने पति और हिन्दी के अत्यंत प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार रांगेय राघव के व्यक्तित्व, कृतित्व और जीवन-संघर्षों की अंतरंग कथा सुनाई है। इसे सुलोचनाजी की लेखकीय प्रतिभा और कल्पनाशीलता की पहचान माना जाना चाहिए, कि उन्होंने जाने-अनजाने हिन्दी को एक ऐसी महत्वपूर्ण साहित्यिक जीवनी सुलभ करा दी है, जिसके ज़रिए रांगेय राघव के जीवन और लेखकीय सरोकारों को समझने में साहित्य के अध्येताओं को मदद मिलेगी।



रांगेय राघव (1923-1962), द्वितीय विश्वयुद्ध की वैश्विक और राष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच से तपकर निकले एक ऐसे रचनाकार थे, जिन्होंने न सिर्फ़ दैहिक-भौतिक सीमाओं से आगे जाकर लगभग सभी साहित्यिक विधाओं में प्रभूत लेखन किया, बल्कि कई परम्पराओं का सूत्रपात भी किया। वे उन विरले रचनाकारों में थे, जिनकी वजह से जन्मजात लेखक या क़लम पकड़े हुए पैदा होने का मुहावरा प्रचलन में आया होगा। पन्द्रह वर्ष की उम्र में कहानी-संग्रह 'अँधेरे की भूख' तथा अठारह वर्ष की उम्र में 'घरौंदे' उपन्यास और खण्ड काव्य 'अजेय खण्डहर!' 1942-43 के बंगाल के अकाल के दौरान बीस वर्षीय रांगेय राघव ने, आगरा के डाक्टरों की एक रिलीफ़ टीम के साथ, बंगाल जाकर वहाँ के दुर्भिक्ष प्रभावित भीतरी भागों का व्यापक दौरा किया था। वहाँ से वापस आने के बाद, दुर्भिक्ष की प्रकृतिजन्य विभीषिका में मनुष्य की हृदयहीन भूमिका को रेखांकित करते हुए रिपोर्ताज की एक सीरीज़ रांगेय राघव ने तैयार की जो बाद में 'तूफ़ानों के बीच' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। हिन्दी में 'रिपोर्ताज' की शुरुआत रांगेय राघव की इसी कृति से मानी जाती है। उसके बाद, बंगाल के अकाल पर ही केन्द्रित एक उपन्यास 'विषादमठ' उन्होंने लिखा, जिसमें बंकिमचन्द्र के इतिहास- प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' को विलोमार्थी मॉडल के बतौर लिया गया है। लेखकीय प्रतिक्रिया व्यक्त करने की यह रचनात्मक शैली रांगेय राघव की अपनी मौलिक सूझ थी, जिसे उन्होंने आगे भी, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के जवाब में 'सीधा-सादा रास्ता' उपन्यास लिखकर जारी रखा। 'कुत्ते की दुम और शैतान : नए टेक्नीक्स' व 'पंच परमेश्वर' कहानियों को भी इसी सिलसिले में याद किया जा सकता है। महादेवी वर्मा के बाद, रांगेय राघव अपने समय के शायद अकेले ऐसे साहित्यकार हों जो भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के साथ-साथ रंगों और रेखाओं का भी सहारा लेते थे। आलोचकीय दृष्टि से उनके कला-कर्म पर बहस हो सकती है (महादेवीजी के भी), लेकिन यह तो मानना ही होगा कि वे हिन्दी की उन विरल प्रतिभाओं में थे, जो शब्द और रंग-रेखाओं को अभिव्यक्ति के परस्परपूरक माध्यमों के रूप में देखती थीं लेकिन इस सबसे ऊपर रांगेय राघव की लोकप्रिय लेखकीय छवि एक ऐसे महालिक्खड़ की रही है, जिसके समक्ष गणेश का मिथक भी अदना लगने लगे। रांगेय राघव क़लम और दिमाग़ को सिंक्रोनाइज़ करके रचना के रूप उभारते थे। तब भी उन्होंने 15 से 39 वर्ष की उम्र के बीच डेढ़ सौ से ऊपर कृतियों का सृजन किया, जिनमें उपन्यास (39), कहानी संग्रह (10), काव्य (13), गाथा (2), रिपोर्ताज (1) जैसे रचना-रूपों का ही नहीं, इतिहास, संस्कृति-चिन्तन और आलोचना (16) जैसे गरिष्ठ और श्रमसाध्य विषयों का समावेश भी है। उन्होंने अनुवाद और पुनर्लेखन (55) का काम भी प्रचुर मात्रा में किया था। शेक्सपीयर के नाटकों, ग्रीक ट्रेजेडीज़ और संस्कृत काव्यों-नाटकों के उनके द्वारा किए गए अनुवाद एक समय में काफ़ी लोकप्रिय हुए थे। समाजशास्त्र-जैसे ग़ैर-साहित्यिक विषयों में भी उनकी अच्छी गति थी और ऐसी कई पुस्तकें सहयोगी लेखक के रूप में उन्होंने लिखी थी। 'महाविजय', 'उत्तरायण' (महाकाव्य) और 'मांडवी' (खण्ड काव्य) जैसी कई उल्लेखनीय कृतियाँ असमय निधन हो जाने के कारण वे पूरी न कर सके और लगभग 25 पुस्तकें अब तक अप्रकाशित हैं, जिनमें कई की तो पाण्डुलिपियाँ ही अप्राप्य हो चुकी हैं।

ऐसी विकट प्रतिभा के धनी थे रांगेय राघव। 'प्राचीन भारतीय

सम्पर्क : ई-मेल : sureshsalig@gmail.com

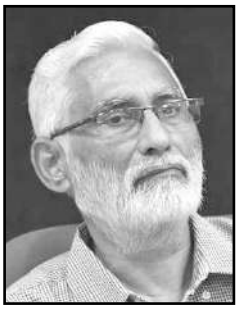
परम्परा और इतिहास' जैसा विशद खोजपरक ग्रन्थ उन्होंने मात्र 21 दिनों में लिखा था। 'कब तक पुकारूँ' जैसा बृहत् कालजयी उपन्यास भी एक मास से कम समय में लिखा गया था। वे प्रायः कहा भी करते थे, "मुझे बहुत लिखना है। सारे संसार को हिला दूँगा।" जीवन की अंतिम वेला में, जब बम्बई में कैंसर का उनका इलाज चल रहा था, तब भी डॉ. जस्सावाला से उन्होंने कहा था, "दस साल दे दो, क़लम तोड़कर रख दूँगा।" एक अर्थ में उन्होंने क़लम तोड़कर रख भी दी थी— अपने आस-पास के संसार को हिला भी दिया था। जयपुर के जर्मन डाक्टर हेलिग उनके काम से इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने अपनी फ़ीस छोड़ दी। कहा, "इट इज़ ए पोएट्स कंसेशन।" रूसी लेखक चेलीशव और ईवानोव मिलने आए, तो उनकी पुस्तकों की संख्या देखकर बोले कि अगर आप रूस में होते और इतना लिखते तो आज किसी राजा की हैसियत में होते, लेकिन रांगेय राघव ने उस नज़रिए से कभी सोचा ही नहीं। वैसी परिस्थितियाँ भी नहीं थीं। विशुद्ध लेखन-जीवी थे, रोज़ कुआँ खोदते थे, पानी पीते थे और फिर अगला कुआँ खोदने में जुट जाते थे। एक बार सुलोचनाजी से उन्होंने कहा था, "आज तक मैंने बहुत सारी किताबों का कॉपीराइट दे दिया है। 'कब तक पुकारूँ' मैंने पन्द्रह सौ रुपये में बेच दिया, यह सब इसीलिए करना पड़ा कि रुपयों की हमेशा आवश्यकता रही, मैंने हमेशा एडवांस में ही रुपये लिए। आई कुड नेवर डिक्टेट माइ टर्म्स।"

यही सब वजहें थीं कि रांगेय राघव, एक लेखक के बतौर, अपने जीवनकाल में ही एक लीजेंडरी व्यक्तित्व बन गए थे। वे इतनी जल्दी-जल्दी, एक के बाद एक रचनाएँ कैसे लिखते चले जाते हैं, इसे लेकर कई तरह की कपोलकल्पित कहानियाँ लोगों ने गढ़ ली थीं। कोई कहता कि वे दोनों हाथों से एक-साथ दो-दो किताबें लिखते हैं, तो कोई और कहता, नहीं जी, वे एक बड़ी-सी मेज़ पर बिना कटे काग़ज़ का पूरा रिम फैलाकर बैठ जाते हैं और बिना हाशिया छोड़े एक सिरे से दूसरे सिरे तक लिखते चले जाते हैं और एक साथ कई-कई किताबें लिखते हैं। एक अध्याय इसका, तो अगला किसी और का। इस तरह एक साथ ही कई किताबें पूरी कर डालते हैं। लिख चुकने के बाद पढ़ते तक नहीं, और फटाफट पोस्ट करने भेज देते हैं। रांगेय राघव के निधन की ख़बर अख़बारों में पढ़ने के बाद, बी. ए. के एक छात्र ने हिन्दी की क्लास में अपने अध्यापक से उनके बारे में जिज्ञासा व्यक्त की, तो उस दग्ध हिन्दी अध्यापक ने कहा, "वो तो बाज़ारू क़िस्म के लेखक थे, काग़ज़ तोलकर लिखा करते थे, पहले से तयकर लेते थे कि दो सेर का उपन्यास लिखना है या पाँच सेर का।" ऐसे कई प्रवाद उनकी मार्क्सवादी समझ और आस्था को लेकर फैलाए गए थे, और यह सब उनके जीवनकाल तक ही सीमित नहीं रहा, निधन के 30-35 साल बाद तक भी उनका ज़िक्र आने पर यही सब चलता रहा। वैसी हालत में, उनके जीवन और व्यक्तित्व पर रौशनी डालने वाली एक संतुलित और रचनात्मक जीवनी की ज़रूरत लगातार महसूस की जाती रही, जिसकी शुरुआत सुलोचनाजी ने की। इस पुस्तक का पहला खण्ड, पहला पत्र भी कह सकते हैं, 'पुनः' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। बाद में पुनरपि के तीखे अहसास ने इस जीवनी की भूमिका तैयार की।

इसके पहले सर्ग की शुरुआत 1953 की उस शाम से होती है, जब 30 वर्षीय रांगेय राघव अपने बड़े भाई की भावी पत्नी के रूप में लेखिका की बड़ी बहन को देखने बम्बई गए थे। कुदरत का करिश्मा देखिए, कि उन्हें भी 'पर्दे की ओट से आख़िर देख ही लिया गया।' उस संकल्पित देखने ने ही रांगेय राघव के साथ लेखिका के विवाह की भूमिका तैयार की, जो तीन वर्ष बाद, 7 मई, 1956 को सम्पन्न हुआ। विवाह की स्मृतियों को कुरेदते हुए सुलोचनाजी लिखती हैं, "मन्त्रोच्चार के मध्य कई बार ये पुरोहित को ग़लत श्लोकोच्चारण के लिए टोक दिया करते थे और स्वयं बोलने लग जाते। वे विवाहोपरांत के प्रथम मिलन के उन क्षणों को भी याद करना नहीं भूलतीं, जब रांगेय राघव ने नालंदा एवं तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय के अपने मानस-स्वप्न से अपनी नव-परिणीता को परिचित कराया था। सुलोचनाजी लिखती हैं कि अपने उस सपने को साकार करने के लिए उन्होंने स्थान भी निश्चित कर लिया था, वैर का नौलक्खा, और कुछ समय तक हम दोनों, कल्पना में, नौलक्खा में विचरण करने लगे थे। नौलक्खा काफ़ी रमणीय स्थान था। कहते हैं कि एक समय वहाँ नौ लाख पेड़ थे। इस पत्र-सर्ग में रांगेय राघव की ये असंकलित कविताएँ भी उद्धृत की गई हैं, जो विवाह के बाद वैर लौटकर, वहाँ के प्राकृतिक परिवेश से अपनी पत्नी का तादात्म्य स्थापित कराने के लिए उन्होंने रची थीं और जिनमें मोर को देवर, बरगद के पेड़ को जेठ के रूप में देखने के लिए प्रेरित किया गया है, "लो, तुम्हें अवलोक, अपने पंख खोले, आ गया है मोर छत पर/ रीझ मत जाना कहीं चित्तचोर इसको जानकर तुम/ है बहुत चालाक यह देवर तुम्हारा/... भीम बरगद है तुम्हारा जेठ, इसको सिर झुकाओ/ बहुत इसकी छाँह में मैंने रचे हैं गीत निर्भय....।'

दरअसल जीवनी का यह पहला हिस्सा रांगेय राघव की कवि-संवेदना, उनके रचनाकार के सरोकारों के विस्तार, उनकी महत्वाकांक्षाओं और जीवनगत अंतर्विरोधों के अध्ययन के बहुत महत्वपूर्ण सूत्र सुलभ कराता है लेकिन इसमें रांगेय राघव के वैसे दुर्लभ गद्य के नमूने भी देखे जा सकते हैं, जैसे अच्छे गद्य के लिए हम अक्सर हजारीप्रसाद द्विवेदी या महादेवी वर्मा का नाम स्मरण करते हैं, मसलन, सुलोचनाजी के नाम रांगेय राघव का एक पत्र। एक अंश देखें : "मेरी दृष्टि अचानक सामने खिड़की पर जाकर अटक गई। वही तुम्हारी देखी हुई दीवाल है, बहुत मोटी, अपने ढाई सौ बरस पुराने घर की। पहले यहाँ खिड़की नहीं थी। पुराने इंसान को खिड़कियाँ लगाने का तरीक़ा ज़्यादा भाता नहीं था। यह खिड़की मलिका विक्टोरिया के बाद, इस मोटी दीवाल में निकाली गई और इसमें से मुझे और तुम्हें फुलवारी के कितने सुन्दर दृश्य दिखाई दिए हैं। उसी खिड़की में न जाने पुराने चूने में कहाँ माटी जा समायी है कि एक नन्हा-सा पौधा निकल आया है। वह अब मेरे देखते-देखते दो फुट का हो गया है, उसमें लम्बे और छह इंच चौड़े पत्ते आए हैं, लम्बे-लम्बे। हवा जब नीबुओं में सरसराकर बरसात के लबालब भरे पानी में भीगकर सघन वृक्षों की छाया में लेटती हुई आती है, पास के विशाल पीपल की डाली के पत्तों के पास में ही सर-सर, हर-हर मचाकर मुझे चौंका देती है, मैं आँखें उठाकर देखता हूँ, तो सबसे पहले पताका-से हिलते इस कोमल पौधे के पत्ते दिखाई देते हैं। सच, मुझे इन पर बड़ा प्यार आता है। धरती से कितने ऊपर पत्थरों और चूने के बीच में से निकल पड़ा यह पौधा अपनी सत्ता के बारे में कितना निश्चिंत-सा दिखाई देता है। लो, मुझे उत्तर मिल गया। तुम पूछती हो—तो, जीवन क्या है ?... —जीवन यह पौधा है। तुम हो और मैं हूँ.... मौलिकता चमत्कार में नहीं, गहराई में है...." इसी पत्र में जीवन को और व्यापक रूप में परिभाषित करते हुए रांगेय राघव कहते हैं, "एक दौड़, एक चक्रगति, एक विकास, एक क्षय और एक अज्ञात रहस्य, जिसकी प्रक्रिया को मनुष्य भीम प्रयत्न से धीरे-धीरे खोलने की चेष्टा कर रहा है।" ❑

● शताब्दी स्मरण



‘पप्पू’ अर्थात अजाना रांगेय राघव

महेश दर्पण

रांगेय राघव से मनमोहन ठाकौर के याराने की यादों का सफ़रनामा है ‘पप्पू’। सन् 1991 में जब यह प्रकाशित हुआ, उन दिनों इसके लेखक चीन के पेइचिंग में रह रहे थे। उनके अनुसार इस पुस्तक की मूल योजना में दो लेखकों को शामिल होना था। पहला खण्ड लिखना था मनमोहन ठाकौर को और दूसरा खण्ड घनश्याम अस्थाना को। किन्हीं कारणों से अस्थानाजी तो नहीं लिख पाए, पर अपने पुराने मित्र पप्पू को ठाकौर साहब ने अपने ही ढंग से याद किया है। इस अर्थ में यह पुस्तक अनूठे कवि-कथाकार-नाटककार-चित्रकार रांगेय राघव, बज़रिए पप्पू को देखने-समझने का एक अनूठा प्रयास है। उल्लेखनीय है कि अब न इस पुस्तक का नायक जीवित है और न लेखक किन्तु दोनों का जन्म सन् 1923 के क्रमशः जनवरी और जुलाई में हुआ था। अपनी किशोरावस्था में ये दोनों ही राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थितियों से समान रूप से प्रभावित हो रहे थे। इस पुस्तक में दरअसल वह पृष्ठभूमि क्रमशः सहजता से खुलती गई है जिससे रचनाकार रांगेय राघव और उनके रचना-जगत को समझा जा सकता है। अच्छी बात यह है कि पुस्तक में वर्णित सभी घटनाओं और प्रसंगों का लेखक साक्षी रहा है। उसके लेखन की यह विशेषता है कि वह खुद को रांगेय राघव के प्रशंसक के तौर पर नहीं, एक मित्र के तौर पर ही रखता है। औपचारिकता को दरकिनार कर, दोस्ताने की इस ज़मीन पर कोई छोटा या बड़ा नज़र नहीं आता। जिन दिनों के प्रसंग इस पुस्तक में आए हैं, पुस्तक का नायक दोस्तों के मध्य पप्पू ही था, रांगेय राघव नहीं। नायक भी उसी हद तक, जहाँ तक उसकी भूमिका महत्वपूर्ण हो। सन् 1935 के आस-पास की यादों से प्रारम्भ इस सफ़रनामे में पप्पू की पहली झलक आगरा में प्रोफ़ेसर अंताणी के घर पर आयोजित नवरात्रि पर्व पर मिलती है। वहाँ उसका परिचय लेखक का मामा एक मद्रासी लड़के के तौर पर देता है जिसका भाई उनके कॉलेज में पढ़ता है। इस लड़के के बारे में मनमोहन को पता चलता है कि उसे ‘पप्पू’ कहा जाता है। ये आचार्या ब्रदर्स तीन भाई हैं। इनका पूरा नाम कोई भी नहीं जानता। इस वक़्त मनमोहन ग्यारह-बारह बरस का था और उससे कुछ ही बड़ा था पप्पू।

बाद में इन दोनों का सम्पर्क सूत्र बना सेंट जॉन्स कॉलेज। इस कॉलेज की पत्रिका मनमोहन के घर आया करती थी क्योंकि परिवार के सभी लड़के वहीं पढ़ते थे। इसी से पता चला कि पप्पू के सबसे बड़े भाई टी.एन.एल.एन. आचार्या पीसीएस में पास होकर अच्छे सरकारी ओहदे पर नियुक्त हो गए हैं। उस ज़माने में सचमुच यह एक बहुत बड़ी बात थी। शहर में परिवार के प्रति आकर्षण का यह बड़ा कारण बना।

हाई स्कूल के छात्र मनमोहन ने कॉलेज पत्रिका में टीएनवी आचार्या के नाम से प्रकाशित कविताएँ पढ़ी ज़रूर थीं, पर उनसे बाक़ायदा परिचय में आए सन् 1940 के आस-पास। हुआ यह कि प्रख्यात आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने मनमोहन को ‘फ्राइडे’ की बैठक में आमन्त्रित किया, तो वहाँ टीएनवी आचार्या को भी मौजूद पाया। यही दोस्तों का पप्पू था। यहाँ हुए औपचारिक परिचय से कॉलेज में बात ‘हलो’ तक पहुँच गई। मनमोहन कक्षा में सेकंड आया तो आचार्या उर्फ़ पप्पू ने भी बधाई दी। बातों-बातों में मज़ाक किया भी और मज़ाक से बचाया भी।

इस दास्ताने पप्पू-मनमोहन में नत्थीलाल की चाय की दुकान, जिसे ‘बाबा का रेस्तराँ’ कहा जाने लगा था, की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। लेखक मनमोहन ठाकौर की मानें, तो रांगेय राघव के व्यक्तित्व-निर्माण और विकास में इस रेस्तराँ का गहरा सम्बन्ध रहा है। यहाँ चाय और सिगरेट के दौर के साथ-साथ चलने वाली टाँग-खिँचाई, ठहाके और बहसों के बीच चलता रहता सहज भाव से तनाव और खिँचाव। वहाँ से उठते तो ठण्डी सड़क पर हवा खाने निकल पड़ते। इस दौरान पप्पू अपनी या किसी और की कविता सुना डालता। इस मंडली में शामिल होने के लिए हाज़िरजवाबी में माहिर होना अनिवार्य था। पप्पू के साथ ही उनके अनेक मित्र भी मनमोहन के मित्र सहज ही बन गए।

अंग्रेज़ी शासन के दौर में यह लड़ाई का वक़्त था। नीहार रंजन सरकार के प्रोत्साहन पर यह मंडली नेताओं की गिरफ़्तारी के बाद कम्युनिस्ट पार्टी का मोर्चा सम्भालने लगी। पदम कुमार जैन जैसे धुनी व्यक्ति के ज़रिए पढ़ने को पत्रिका मिल ही जाती थी। मनमोहन को गुप्तजी के यहाँ स्टडी सर्किल में जाने का अवसर भी मिलने लगा। यहीं से पप्पू और मनमोहन में गहरी छनने लगी। यहीं से उसने जाना कि पप्पू बेहद सिगरेट पीता है। उन दिनों वह एक उपन्यास पर काम कर रहा था। सन् 1940 की गर्मियों में छुट्टी हुई तो मनमोहन दोपहर को रोज़ ही पप्पू के घर पहुँच जाता। पप्पू हर रोज़ उपन्यास के कुछ पृष्ठ लिखता और उसे सुनाता। यह उपन्यास था, ‘घरौंदा’। उसे बैठकी खूब पसन्द थी। लेखक बताता है कि इसी वातावरण में ‘घरौंदा’ जैसा उपन्यास और लम्बी कविता ‘मेधावी’ लिखी थी पप्पू ने। उसका कहना है कि इन्हीं दिनों ‘अजेय खण्डहर’ और ‘विषाद मठ’ या ‘पंच परमेश्वर’ जैसी कई

सम्पर्क : *ई-मेल : darpan.mahesh@gmail.com*

कहानियाँ भी लिखी गईं।

'पप्पू' शीर्षक इस पुस्तक में किशोर रांगेय राघव के कई क़रीबी दोस्तों से आप मिल सकते हैं। जैसे सुन्दर सिंह, जो पप्पू को 'एम क्यूब' कहता था। उसकी शैतानियाँ भी यहाँ वर्णित हैं पर इससे भी ज़्यादा खुलते हैं पप्पू के व्यक्तित्व के विविध तत्त्व। इनमें अधिकांश सामंती तत्त्व भी शामिल थे, जैसे- शारीरिक श्रम से बचना। न वह साइकिल चलाता, न तैरता। स्टोव जलाने से बचना, अपनी दाढ़ी खुद न बनाना। उसकी दाढ़ी बनाने वाला सोना प्रथम विश्व युद्ध में भारतीय फ़ौज में शामिल रहा था और यूरोप घूम चुका था। जब वह क़िस्से सुनाता, तो पप्पू बड़े ग़ौर से सुनता रहता। उसे गप्प सुनना बर्दाश्त था पर कल्पना के मध्य भी सौन्दर्य पर आँच आ जाए, यह उसे क़तई गवारा न था। ठीक इसी तरह वह 'रूरल डेवलपमेंट सोसाइटी' के प्रोग्राम में भी साथियों के संग न जाता क्योंकि उसे गाँव की धूल और गंदगी बर्दाश्त न थी।

बहरहाल, यह वह दौर था जब आगरा में प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित किया। उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि 'मतवाला' के प्रकाशक ओमप्रकाश शर्मा के निवास पर प्रलेस की बैठकें होने लगीं। इनमें भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, बाबू गुलाब राय, महेन्द्रजी, विश्वम्भर मानव आदि के साथ पप्पू अर्थात रांगेय राघव और मनमोहन ठाकौर भी उपस्थित रहा करते थे। मेज़बान शर्माजी पप्पू के पड़ोसी होने के कारण पारिवारिक मित्र भी थे। दरअसल, ये गोष्ठियाँ युवा रचनाकारों के लिए प्रोत्साहन का माध्यम थीं। एक अच्छी बात यह भी थी कि इनमें हिन्दी और उर्दू के विद्वान मिलकर हिस्सेदारी करते थे। यह दीगर बात है कि कुछ परम्परा को लेकर झूलते रहते और कुछ नए मूल्यों की बात करते। इन्हीं में से किसी एक गोष्ठी में पप्पू ने भी 'नरक' शीर्षक से एक कहानी पढ़ी थी। यह इतनी लम्बी रचना थी कि दो-तीन गोष्ठियों में पूरी हो पाई। कहानी इस पुस्तक के लेखक को खूब पसन्द आई, पर भारतभूषण ने उसकी खूब आलोचना की। यही नहीं, प्रकाशचन्द्र गुप्त भी उस पर अपनी साफ़ राय न रख पाए। लेखक ने पार्टी की संकुचित दृष्टि को तभी पकड़ लिया था। पप्पू दकियानूसी क़तई न था। जब रूरल कैम्प से मनमोहन चुटिया कटाकर लौटा तो उसे परिवार की खरी-खोटी तो खूब सुननी पड़ी किन्तु पप्पू ने उससे कहा, "अब तू आदमी लगेगा। ख़बरदार अपनी चुटिया फिर से बढ़ाई तो।"

यह पुस्तक अपने वक़्त की प्रामाणिक जानकारी तो देती ही है, चुहलभरी ज़बान में उस समय का पूरा परिवेश भी खड़ा कर देती है। इसीलिए नागार्जुन ने एक पत्र में ठाकौर साहब को लिखा था,"डियर मनमोहन, याने ठाकुर साहेब, अभी-अभी तुम्हारी पप्पू वाली किताबिया पूरी की। दरअसल तुम भारी शैतान हो। अपनी क़ाबिलियत को हींग की डिबिया में बन्दकर, घूमते हो। कलकत्ता के मित्रों को पता तक नहीं लगने दिया कि चीन में जा बिराजे हो। अब यहाँ ज़ोरों से चर्चा है कि लौट आए हो और संशोधनवाद के कंधों पर लात जमाकर कालीमाई की छाया में मुस्कुरा रहे हो। यह पुस्तिका हमारे स्वाधीनता आंदोलन के छोटे से पीरियड का भी बहुत बढ़िया दस्तावेज़ बन गई है। आगरे की तुम्हारी किशोर मंडली पाठकों के दिल-दिमाग़ पर बहुत बढ़िया छाप छोड़ती है। मगर तुम डाकू हो, ज़्यादा लिखते नहीं हो--" सही कहा था नागार्जुन ने। इस पुस्तक में पप्पू-कथा के साथ-साथ गाँधीजी के व्यक्तिगत सत्याग्रह युद्ध की छाया, स्वाधीनता आंदोलन और आमजन की भूमिका भी खुल-खुल जाती है पर यह सब समय की धड़कन भर बताने के लिए नहीं, लेखक ने यह बताने के लिए भी किया है कि इन घटनाओं और प्रसंगों का उपयोग रांगेय राघव किस तरह अपनी रचनाओं में किया करते थे! जैसे मनमोहन के मामा का युद्ध विरोधी नारे लगाने का प्रसंग और उसके बाद का वाक़या 'विषाद मठ' में उतर आता है। यह पुस्तक उन दिनों के बारे में आँखों-देखा हाल बताती है– "पप्पू का 'घरौंदा' समाप्त हो चुका था। कविताओं और कहानियों की तो न उसने कभी गिनती रखी थी, न हमने। हाँ, एक लम्बी कविता उसने लिखनी शुरू की थी उन दिनों 'मेधावी'। अनेक विषयों का समावेश था इस कविता में। इसमें नक्षत्रों के समवेत नृत्यवाली उसकी पंक्तियों ने गहरी छाप छोड़ी थी मन पर। नित्य लिखता और नित्य सुनाता। उसका कंठ अपूर्व था। बेहद प्यारा गाता था। मुग्ध होकर हम सुनते रहते और समाप्त होन पर शुरू हो जातीं चुहलबाज़ियाँ।"

पप्पू के रोमांस-प्रसंग, एकांगी प्रेम, उसकी टाँग-खिँचाई के क़िस्से तो इस पुस्तक में हैं ही, उसकी लिखी कहानी 'देवोत्थान' का प्रसंग भी जिस अंदाज़ में आया है, उसे पढ़कर आनन्द आता है। यह कहानी बाद में रांगेय राघव के संग्रह 'देवदासी' में संग्रहीत हुई थी। भाषाओं में सीखने की ललक पप्पू में ख़ूब थी। मनमोहन ठाकौर ने बताया है कि कैसे पप्पू ने बालेश्वर नाथ शास्त्री से बाक़ायदा संस्कृत सीखी! बाद में तो उसने संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया। यही नहीं, पप्पू की चित्रकला के आँखों देखे कई प्रसंग भी यहाँ वर्णित हैं।

यज्ञदत्त शर्मा के आगरा पहुँचने और उनकी संगत में राजनैतिक बहसों का प्रभाव और पप्पू द्वारा जनयुद्ध की स्वीकृति के बाद लिखी कविता आज ऐतिहासिक महत्व की है—

'टेम्स हो या यांगत्सीक्यांग
वोल्गा हो या गंगा हो,
सबकी एक लड़ाई है
दुनिया की आज़ादी की।---'

यह पूरी कविता जनयुद्ध की व्याख्या बड़ी ख़ूबसूरती से करती है।

गम्भीर-से-गम्भीर प्रसंग अपनी जगह हैं और दोस्तों के मज़ाक, शैतानियाँ और चुहलबाज़ियाँ अपनी जगह। बूँदी में मुलाक़ात और ताँगा-प्रसंग के दौरान हुआ संवाद पढ़कर यह बख़ूबी जाना जा सकता है। ये प्रसंग महज़ मज़े लेने के लिए नहीं, यह ज़ाहिर करने के लिए भी दर्ज किए गए हैं कि कैसे पप्पू छोटी-छोटी बातों के ज़रिए अपनी अहम-तुष्टि कर लेता था! यह भी कि आंदोलनों में भाग लेते वक़्त सीन फिर कैसे चेंज हो जाता था। 'अंग्रेज़ो, भारत छोड़ो' के गाँधी-आह्वान के वक़्त आगरा के स्कूल-कॉलेजों में हड़ताल के प्रयत्नों में मनमोहन और उनके साथियों में पप्पू भी बराबर सक्रिय रूप से शामिल रहा। सन् बयालीस के विद्रोह के समय उसका साथ देने या न देने को लेकर उसके ऊहापोह को भी लेखक ने क़ायदे से उजागर किया है। विद्रोहियों के रूप में इनकी गिरफ़्तारी और जेल में यू.पी. कांग्रेस के अध्यक्ष कृष्णदत्त पालीवाल और महावीर त्यागी से बहस-मुबाहसा पठनीय है।

पार्टी के साथियों में बिशन और पप्पू की कहा-सुनी के बीच यह खुलता है कि कैसे पप्पू को अपनी आलोचना बर्दाश्त न होती थी!

आलोचना स्वीकार करने से पहले उसके लिए ज़रूरी यह था कि वह आलोचक को स्वीकार कर ले। 'लोकयुद्ध' के लिए रमेश सिन्हा ने पप्पू से कविता माँगी तो उसने जोश मलीहाबादी के एक गीत की तर्ज़ पर लिखा-

'ये फरफरा उठी हवा / ये खेत लहलहा उठे / कि ज़िन्दगी की आबरू / पुकार गीत गा उठे / कि जिनकी मेहनतों पे / पल रहा है पेट विश्व का / क़दम मिला गरज़ उठो / बढ़े चलो, बढ़े चलो।---'

दोस्तों के बार-बार आग्रह करने पर ही यह गीत लिखा गया। गीत छपा भी, किन्तु सम्पादक के सम्पादन से पप्पू बेहद नाराज़ हो गया। वह पार्टी के मैनिफ़ेस्टो और साहित्य में अंतर को खूब समझता था। यहीं से पप्पू में एक वैचारिक दरार ने प्रवेश कर लिया था। दरअसल, यह उसकी आदत ही थी कि व्यक्तिगत आलोचना भले ही कोई उसकी कर ले, किन्तु उसके लेखन पर कोई कुछ कहकर तो देखे!

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि पढ़ते हुए अनेक प्रसंग पहले भले ही पप्पू से जुड़े न लगें, पर बाद में जब उनसे सम्बन्ध का तार खुलता है तो लेखक की दृष्टि की दाद देनी पड़ती है। इसी प्रकार यहाँ स्तालिनग्राद के युद्ध की विशद चर्चा से जब पता चलता है कि उसका पप्पू पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा था और कैसे फिर उसने 'अजेय खण्डहर' की रचना की थी, तब पाठक सन्तुष्ट हो जाता है। मनमोहन यह भी बताते हैं कि पहले इस रचना का नाम ही पप्पू ने 'स्तालिनग्राद' रखा था बल्कि यह भी तय किया था कि इसके प्रत्येक पद का अंतिम शब्द भी वही रखेगा पर बाद में ऐसा रूप रचना का न रहा, लेखक की दृष्टि में यह अच्छा ही हुआ।

रांगेय राघव की अनेक रचनाओं के उत्स तो लेखक ने उजागर किए ही हैं, उसकी रचना-प्रक्रिया के साक्षी रहने के अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। उसके गहन अध्ययन, नोट्स तैयार करना, किताबें-पत्रिकाएँ जुटाकर पढ़ना और फिर हिन्दू दर्शन व साम्यवाद का तुलनात्मक विवेचन करना। लेखक ने स्पष्ट कहा है कि भारतीय जन-मन की स्वतन्त्रताकामी भावना द्वारा लड़े जा रहे संग्राम का एकमात्र प्रतीक पप्पू को महात्मा गाँधी ही लगे थे। लेखक की यह मान्यता सही है कि जिन आलोचकों को पप्पू काग़ज़ तोलकर लिखने वाला लगा था, उनकी तुलना में आज उसका साहित्य कहीं ऊँचा है।

सम्यक आलोचना का सम्मान कैसे किया जाता है, यह पप्पू ख़ूब जानता था। इसीलिए उसने कुँवर मुहम्मद अशरफ़ की यह सलाह बराबर मानी कि "क़रीब छह महीने के लिए अपनी लिखी रचना को भूल जाओ, छह महीने बाद उसे पढ़ोगे तो इसकी कमज़ोरियों और पुख़्तगी का फ़ैसला तुम खुद ही कर सकोगे।" खुद लेखक इस घटना का गवाह रहा है कि कैसे पप्पू ने अपने सैकड़ों गीत रद्दी की टोकरी के हवाले कर दिए थे!

मनमोहन उन शोधग्रन्थों की कमियाँ भी उजागर करते हैं जिनमें रांगेय राघव को तुकान्त लिखने में अक्षम बताया गया था बल्कि उसका वह कथन उद्धृत किया है कि "जब तक कोई कवि दो-तीन सौ कवित्त, सवैये न लिख ले, उसे नई कविता लिखने का अधिकार ही नहीं दिया जाना चाहिए।"

हाँ, यहाँ मनमोहन बाक़ायदा उल्लेख करते हैं कि सार्वजनिक मंच से भाषण देने के ख़याल से ही पप्पू की नानी मरती थी। इसीलिए वह कवि सम्मेलनों में भी नहीं जाता था। प्रलेस की गोष्ठियों में जाता ज़रूर था, पर उसे रामविलास शर्मा का तौर-तरीक़ा बर्दाश्त नहीं हुआ। हाँ, राहुल सांकृत्यायन से लेखक और पप्पू के आगरा में मिलने का प्रसंग दिलचस्प है। इस दौरान राहुलजी के कारण ही पता चलता है कि पप्पू तमिल केवल बोल सकता है, पढ़ नहीं सकता। और राहुलजी ने उससे कहा था, "पप्पू, तब तो तुझसे अच्छा 'मद्रासी' मैं हूँ। मैं तमिल में लिख-बोल-पढ़ सकता हूँ।"

लखनऊ से आगरा लौटकर पप्पू द्वारा रस लेकर लड़कियों की चर्चा, परीक्षा में उसके द्वारा अपना ही एक नाटक लिख डालना और परीक्षक से उसका हुलिया न बिगाड़ने की प्रार्थना करना, जयराम के साथ पप्पू की ठन जाना (क्योंकि संस्कृत-हिन्दी तक तो ठीक था, किन्तु पप्पू की अंग्रेज़ी कमज़ोर थी) के साथ ही अनेक भ्रमों का निवारण भी यह पुस्तक करती है। यह भी बताती है कि अनेक अवसरों पर पप्पू की गवाही कैसे काम आती रही।

सन् 1944 में बछगाँव में हुए उत्तर प्रदेश किसान सम्मेलन में मनमोहन और पप्पू के साथ दो और छात्र गए थे। वहाँ पहुँचने और लौटने का विवरण ही नहीं, वहाँ पप्पू द्वारा हज़ारों के बीच कविता सुनाने से इंकार करना भी सामने हो आता है। आगरा विद्यार्थी संघ के सांस्कृतिक आयोजन के लिए ख़ासतौर पर लिखे गए पप्पू के नाटक और उसके द्वारा अपनी बैठक में रिहर्सल कराने जैसी सूचनाएँ भी यह पुस्तक देती है। इस नाटक के मंचन का रोचक वृत्तान्त मनमोहन ठाकौर ने अपनी अलमस्त ज़बान में दिया है। अनेक ऐसी घटनाएँ और प्रसंग इस पुस्तक में मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि पप्पू किसी काम में पीछे न रहता था। बंगाल के अकाल पीड़ितों को राहत पहुँचाने के लिए जब एक जत्था आगरा से रवाना किया गया, तो उसके साथ रिपोर्टर के तौर पर पप्पू ही गया। यह यात्रा हिन्दी में रिपोर्ताज लेखन का प्रस्थान बिन्दु बन गई। पप्पू ने 'तूफ़ानों के बीच' लिखकर यह शुरुआत की। यही नहीं बंगाल से लौटते हुए इक्कीस वर्षीय पप्पू के साथ छोटी-छोटी कुछ नई रची गई कविताएँ भी थीं। जैसे-

'विजन मरू में साथ जिसके
यह मुसाफ़िर चल रहा था
लुट गया जब कारवाँ ही
हाय क्या पदचिह्न खोजूँ।'

पुस्तक बताती है कि अपनी लिखी कई कविताएँ पप्पू ने एक खूबसूरत डायरी में चित्रों के साथ सजाकर अपनी किशोरावस्था की एक प्रेयसी को भेंट कर दीं और मित्रों से कह दिया कि डायरी खो गई है। पप्पू की लेखन प्रतिभा का असर मित्रों पर भी हो रहा था। ऐसे ही एक मित्र जतनलाल ने प्लासी के युद्ध की पृष्ठभूमि पर एक नाटक लिखकर सुनाया भी। पप्पू ने संस्कृत-तमिल विद्वान अपने पिता श्रीरंगाचार्य के नाम पर ही स्वयं को 'रांगेय' कहा था। लेखक के अनुसार उसे, पिता से गहरा प्यार था। पिता से उसे विरासत में जो कुछ मिला था, उससे उसे भविष्य में लेखन-कार्य में बड़ी सहायता मिली। उन दिनों पप्पू ने अनेक विदेशी रचनाओं के अनुवाद भी किए थे। इनमें व्लादिमीर मायकोवस्की की कविताएँ भी शामिल थीं। राजनैतिक माहौल पर पप्पू के अपने गीत

पृष्ठ 15 पर जारी...

● **शताब्दी स्मरण : संस्मरण**



पुनः

सुलोचना रांगेय

(पत्र शैली में अपनी बेटी के नाम लिखी, सुलोचना रांगेय राघव की संस्मरणात्मक पुस्तक 'पुनः'/ 'पुनश्च' ('रांगेय राघव : एक अंतरंग परिचय') से, जो लगभग डेढ़ दशक के अंतराल के बाद अब फिर से शीघ्र प्रकाशित होगी।)

पहला अंश

1955 में, मैं अपनी बड़ी बहन (उनकी भाभी) की ससुराल में ग्रीष्मावकाश व्यतीत करने गई थी- उसी रमणीय स्थान पर, जो मुझे आज भी तुम्हारे अप्पा (पिता) का एहसास दिलाता है। जिस दिन हम वहाँ पहुँचे, मेरी आँखें उन्हें ही खोजती रहीं, किन्तु वे कहीं नहीं दिखाई दिए। मैं कुछ निराश हो गई थी। संध्या भी धीरे-धीरे रात्रि में ढलने लगी थी, तब उसी विशाल प्रकोष्ठ (कचहरी) के अँधेरे कोने में किसी ने दीप जलाया और साथ ही मेरे मन का घेरा दूर हो गया। लैम्प हाथ में लिए वे अपने कमरे में चले गए और मैं उस आकृति को देखती रही, उस पूरे वातावरण को निहारती ही रह गई, कितना रहस्यमय था सब कुछ! कितना तो बड़ा घर और कितना प्राचीन!! उन्हें जाते देखकर लगा, कालिदास जा रहे हैं!!!

दूसरे ही दिन मैं उनके पुस्तकालय में पहुँच गई। इधर-उधर कुछ पुस्तकों को उलट ही रही थी कि उनका वहाँ आना और अचानक पूछ बैठना, "आप क्या कर रही हैं?" ने मुझे लगभग चौंका ही दिया था। घबराहट की अवस्था में एक स्कूल की छात्रा की भाँति खड़े होकर मैंने उत्तर दिया था, "आप ही की किताबें देख रही हूँ।" इस बात पर वे मुस्कुराए और कहने लगे, "मैं पूछ रहा हूँ कि आपने क्या पास कर लिया है?" और हिचकिचाते हुए मैंने उत्तर दिया था," एस.एस.सी (अर्थात् हाई स्कूल) पास कर लिया है" और मन-ही-मन उनके अन्य प्रश्नों के लिए तैयार हो गई थी।

जिस व्यक्ति को देखने के लिए मुझे इतना परिश्रम करना पड़ा था, आज वही मेरे समक्ष है, यह महसूस कर मैं स्तम्भित रह गई। बातों ही बातों में उन्होंने जानना चाहा था कि मेरी आगे अध्ययन में रुचि है या नहीं, साहित्य के प्रति कितना रुझान है, कौन-कौन से उपन्यास पढ़ डाले, इत्यादि। इतना बड़ा साहित्यकार और इतनी सरल बातें, यह मैं सोच भी नहीं सकती थी। हाँ बेटे, इधर-उधर की कई तरह की बातें होती रहीं। मुझे कुछ समय तक विश्वास ही नहीं हुआ कि मैं एक बड़े साहित्यकार के साथ बात कर रही हूँ। इन्हीं बातों में उन्होंने यह भी बताया था कि वे लेखन-कार्य से ऊब गए थे और कुछ परिवर्तन चाहते थे। उनकी यह बात सुन मुझे न केवल आश्चर्य वरन् दुख भी हुआ और अपनी ओर से बराबर यही कहती रही कि वे ऐसा न करें। उस समय मैं एकाएक बुज़ुर्ग बनकर उन्हें जैसे सलाह देने लगी थी कि वे इस ऊब को समाप्त करने के लिए कुछ अवकाश अवश्य लें, पर लेखन-कार्य कदापि न छोड़ें।

लेखक के जीवन की आलोचना करते हुए वे बार-बार यही कहते रहे कि यदि किसी व्यक्ति को अपना जीवन ढंग से व्यतीत करना हो, तो उसे लेखक के अतिरिक्त सब कुछ बनना चाहिए। लेखक के जीवन के प्रति उनकी उदासीनता देख उस समय तो मेरी समझ में कुछ नहीं आया था, परन्तु बाद में पता चला कि वे मेरी परीक्षा ही ले रहे थे और यह जानना चाह रहे थे कि मेरी साहित्य के प्रति रुचि किस हद तक है।

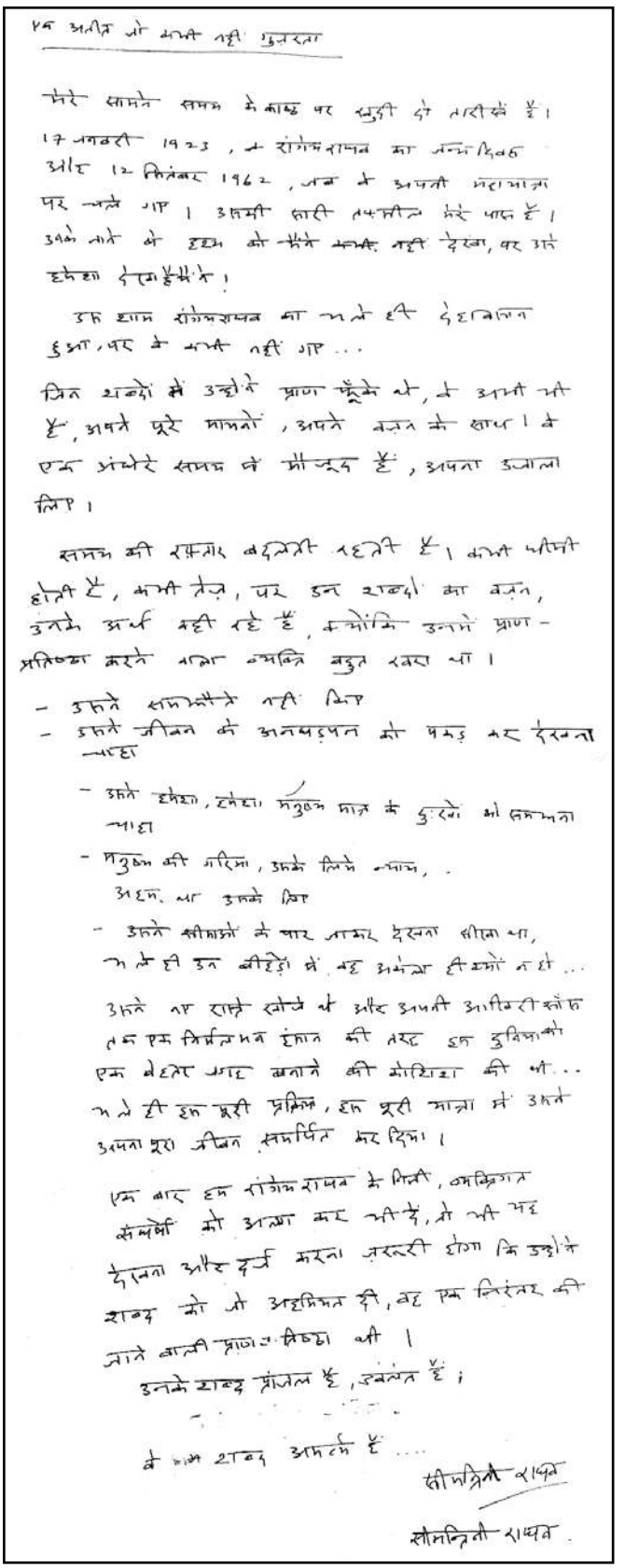
कुछ दिनों के लिए मैं ताजमहल देखने आगरा चली गई थी। जब लौटी तब उन्होंने मेरे सामने विवाह का प्रस्ताव रख उनके साथ गाँव में रहने के लिए तैयार हूँ या नहीं, पूछा था। मुझे याद आ रहा है, बेटे, उनकी अम्मा ने भी मुझे पास बुलाकर कहा था, "पप्पू तुमसे विवाह करना चाहता है और उसकी इच्छा है तुम आगे पढ़ाई करो। यह मेरा पप्पू विवाह की बात कभी नहीं सोचता था, कई प्रस्ताव लौटा चुका है। उसने तुम्हें मन से पसन्द किया है।"

मेरे बम्बई-प्रस्थान के एक दिन पूर्व उन्होंने मुझे अपना प्रकोष्ठ देखने के लिए बुलाया जहाँ वे अपना लेखन-कार्य किया करते थे। वहाँ पहुँच मुझे आभास हुआ कि मैं किसी प्राचीन ऋषि के आश्रम में पहुँच गई हूँ। चारों ओर पुस्तकें रखी थीं और नीचे बिछा रखा था आसन। क़लम, दवात और कुछ काग़ज़। हाँ, यही तो थी उस योगी की सम्पत्ति! कमरे के पीछे की ओर फुलवाड़ी की दिशा में खुलती हुई खिड़की से मन्द-मन्द बयार रोम-रोम को झंकृत कर उठती थी। दूर-दूर तक फुलवाड़ी में भरा पानी सूर्य के प्रकाश में चाँदी की भाँति चमक उठता था। वटवृक्ष में कोंपलें फूट निकली थीं और पक्षियों का कलरव पूरे वातावरण में गुंजित हो उठता था। तो क्या यही वातावरण मेरे इस 'कालिदास' को प्रेरित करता रहा है, मैं सोचने लगी।

पूरा वर्ष पत्र-व्यवहार में, एक-दूसरे को समझने में, एक-दूसरे की रुचियाँ जानने में और अन्य विचारों को अवगत कराने में बीत गया। कई बार उन दिनों मैं स्वयं को उनके सामने छोटा महसूस करने लगी थी, परन्तु मन के किसी कोने में दृढ़ता थी कि एक-न-एक दिन वास्तविक

सम्पर्क : *ई-मेल : author.rangeyaraghava@gmail.com*

स्मरण (पुत्री सीमन्तिनी राघव पिता को याद करते हुए)



एक अतीत जो कभी नहीं गुजरता

मेरे सामने समय के काँच पर खुदी दो तारीखें हैं। 17 जनवरी 1923, जब राँगेय राघव का जन्म दिवस और 12 सितंबर 1962, जब वे अपनी महायात्रा पर चले गए। उनकी ढेरों तस्वीरें मेरे पास हैं। उनके जाने के बाद को हमने कभी नहीं देखा, पर उन्हें देखा है मैंने।

इक ख़ास राँगेय राघव का जन्म ही देहावसान हुआ, पर वे कभी नहीं गए...

जिन शब्दों में उन्होंने प्राण फूँके थे, वे अभी भी हैं, अपने पूरे मानकों, अपने वज़न के साथ। वे एक अंधेरे समय में मौजूद हैं, अपना उजाला लिए।

समय की रफ़्तार बदलती रहती है। कभी धीमी होती है, कभी तेज़, पर इन शब्दों का वज़न, उनके अर्थ वही रहे हैं, क्योंकि उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति बहुत सजग था।

- उसने समझौते नहीं किए
- उसने जीवन के अनगढ़पन को पकड़ कर देखना चाहा
- उसने इकहरा, दोहरा, मनुष्य मात्र के कुरूप को समझना चाहा
- मनुष्य की गरिमा, उसके लिखे व्याकरण, अहम् का उसके लिए
- उसने सीमाओं के पार जाकर देखना सीखा था, न जाने ही इन चीज़ों में वह अनंतता ही क्यों न हो...

उसने वह रास्ते खोजे थे और अपनी आखिरी साँस तक एक निर्धनतम इंसान की तरह इस दुनिया को एक बेहतर जगह बनाने की कोशिश की थी... न जाने ही इस पूरी प्रक्रिया, इस पूरी यात्रा में उसने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया।

एक बार इस राँगेय राघव के निधी, व्यक्तिगत संस्मरणों को आत्मा कर भी दें, तो भी यह देखना और दर्ज करना ज़रूरी होगा कि उन्होंने शब्द को जो अहमियत दी, वह एक निरंतर की जाने वाली प्राण-प्रतिष्ठा थी।

इनके शब्द ज्वलंत हैं, जीवंत हैं;

वे सब शब्द अमर्त्य हैं....

सीमन्तिनी राघव

सीमन्तिनी राघव

रूप में उनकी सहचरी बन पाऊँगी। हम दोनों के बीच तेरह वर्ष का अंतर भी तो था, बेटे!

दूसरा अंश

1956 में विवाह के वे प्रारम्भ के दिन वास्तव में बहुत ही सुखद थे। मेरे लिए हर दिन, एक स्वप्न की भाँति आता और चला जाता। इन्हीं दिनों उन्होंने अधिक समय अवकाश में ही व्यतीत करना पसन्द किया था और इसी अवकाश के दौरान अपने जीवन की अधिकांश बातें मुझे बताई थीं।

इन्हीं दिनों मुझे उनके मज़ाक का कई बार शिकार बनना पड़ा। मेरी हिन्दी अच्छी नहीं थी। बम्बई की हिन्दी समुद्र-तीर की हिन्दी है, उसमें उतनी मिठास कहाँ जो कि गंगा-यमुना-तीर की हिन्दी में पाई जाती है। हाँ, बेटे, मेरी इसी बम्बइया हिन्दी को लेकर तुम्हारे अप्पा मेरा बहुत ही मज़ाक उड़ाया करते थे। एक बार उन्होंने किसी चीज़ के लिए पूछा तो मैंने झट से कह दिया "बाज़ू में रखी है", वे तुरन्त अपनी बाज़ू देख कहने लगे, "यहाँ तो नहीं है।" कुछ देर के लिए मैं असमंजस में पड़ गई थी और बाद में अपनी ग़लती समझ गई थी। इस तरह 'ऐसा' शब्द को 'एसा' कहती तो वे मुझे तोते की तरह रटाते और जब मैं बहुत ध्यान देकर ठीक बोलने की कोशिश करती तो मेरे मुँह से 'अइसा' निकल जाता। फिर क्या, उन्हें तो बस मौक़ा चाहिए होता, चिढ़ाने लग जाते। इसी तरह उन्होंने मेरे पीछे पड़कर ठीक तरह से बोलना सिखाया था।

हाँ, एक और मज़ेदार बात मुझे भाषा को लेकर याद आ रही है। विवाह के कुछ दिन बाद उनकी माँ ने मुझे बैंगन की सब्ज़ी बनाने का आदेश दिया। तुम्हारे अप्पा को बैंगन बहुत पसन्द थे। मेरे लिए नया घर और उसमें पुरानी व्यवस्था- लकड़ी का चूल्हा। मैं पहले तो थोड़ा घबराई लेकिन घर के आचारी (जो मन्दिर में ठाकुरजी की पूजा किया करते थे) ने मेरी हिम्मत बँधाई। रात्रि को दोनों माँ-बेटे खाना खाते समय कहने लगे, 'मलूक' बनी है (घर में वे लोग ब्रज भाषा बोला करते थे)। मैं जिज्ञासावश समझने की कोशिश कर रही थी कि क्या कहा जा रहा है, परन्तु मेरी समझ में यह 'मलूक' शब्द नहीं आया। 'मलूकदास' के बारे में तो मैंने सुना था, पर यहाँ पर तो कोई तुक ही नहीं बैठ रहा थी। मैं असमंजस में ही रही। बाद में मैंने जब उनसे पूछा कि सब्ज़ी कैसी लगी, तो बड़े गम्भीर होकर बोले, "बहुत ही बुरी, एक सब्ज़ी तक नहीं बनाना आया, नाक कट गई भई, हमारी।" मैंने पूछा, 'तो मलूक-मलूक क्या कह रहे थे?" तो कहने लगे 'मलूक' का अर्थ है 'बुरा'। मुझे वास्तव में उस दिन बहुत बुरा लगा। दूसरे दिन मौक़ा पाकर मैंने घर के एक नौकर गोकुल को बुलाकर 'मलूक' शब्द का अर्थ पूछा। "बहूजी, 'मलूक' का मतलब अच्छा होता है।" गोकुल ने यह कहकर मेरे मन की दुविधा दूर कर दी थी। उसी समय, मैं बहुत ही अकड़कर उनके सामने गई तो वे भाँप गए, और मुँह में सिगरेट दबा मुस्कुराने लगे।

जब आए दिन इस तरह की घटना घटने लगी, तो मैंने हिन्दी अच्छी तरह सीखने का निश्चय कर लिया। मँझले भाई के बच्चों को उन दिनों पण्डितजी पढ़ाने आया करते थे। मैं भी बैठने लगी, बेटे, और कुछ ही समय में मैंने हिन्दी शब्दों का शुद्ध उच्चारण एवं व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लिया। ❑

● शताब्दी स्मरण



रांगेय राघव
आम आदमी का ख़ास कहानीकार

धर्मेन्द्र प्रताप सिंह

प्रत्येक रचनाकार अनिवार्यतः अपने युग की उपज होता है। रचनाकार का युग-यथार्थ ही उसकी चेतना के निर्माण में सहायक बनता है। रचनाकार के बोध और दृष्टि के निर्माण में उसकी समकालीन स्थितियाँ निर्णायक होती हैं। रांगेय राघव की कहानियाँ भी इसी सत्य का उद्‌घाटन करती हैं। उनके युग-बोध और कहानी सन्दर्भों के बीच एक गहरा सूत्र नज़र आता है।

प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों में रांगेय राघव की पहचान एक ऐसे रचनाकार के रूप में है, जिन्होंने बहुत कम समय में न केवल संख्या की दृष्टि से अधिक बल्कि स्तरीयता के निकष पर भी अनूठे साहित्य की सर्जना की। वे एक ऐसे विलक्षण रचनाकार थे, जिनके लिए लेखन जीवन की ऊर्जा थी। उन्होंने लेखन को आजीविका के साथ समाज सुधार का माध्यम बनाया। उन्नतालीस वर्ष की अल्पायु में साहित्य की अधिकांश विधाओं में सर्वश्रेष्ठ रचते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द की तरह उन्होंने अपनी बहुआयामी रचनाशीलता से हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध किया। कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, इतिहास, नाटक, रिपोर्ताज और कविता के साथ समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, चित्रकारी, अनुवाद आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी रचनात्मक कुशलता से हिन्दी की महान रचनाशीलता के दर्शन कराए।

रांगेय राघव की गणना प्रेमचन्द और राहुल सांकृत्यायन के साथ हिन्दी गद्य के लिक्खड़ लेखकों में होती है। बहुत लिखने पर उनके बारे में कहा जाता था कि वे दोनों हाथों से रात-दिन लिखते थे। उनकी लिखने की रफ़्तार ऐसी थी कि एक दिन में कहानी और एक-दो दिन में उपन्यास लिख देते थे। 'पराया' और 'काका' उपन्यास उन्होंने सिर्फ़ दो-दो दिन में लिख डाले। राजेन्द्र यादव का कहना था, "उनकी लेखकीय प्रतिभा का ही कमाल था कि सुबह यदि वे आद्यैतिहासिक विषय पर लिख रहे होते, तो शाम को उन्हें उसी प्रवाह से आधुनिक इतिहास पर टिप्पणी लिखते देख सकते थे।"

रांगेय राघव की सृजन-यात्रा चित्रकला से आरम्भ होती है। वे कुशल चित्रकार तथा सुमधुर गायक भी थे। काव्य के प्रति उनमें विशेष आकर्षण था। साहित्य रचनाशीलता के क्षेत्र में उनका प्रवेश एक गीतकार के रूप में हुआ लेकिन कालांतर में उनकी अक्षय कीर्ति का प्रमुख आधार कथा-साहित्य बना। अड़तीस उपन्यास, ग्यारह कहानी-संग्रह, छह काव्य-संग्रह, पाँच नाटकों के साथ रिपोर्ताज, आलोचना, इतिहास और दर्शन आदि मिलाकर एक सौ सत्रह के आस-पास उनकी पुस्तकें प्रकाशित हैं। उनके उपन्यास ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। कहानी के पूर्व-प्रचलित पारम्परिक ढाँचे में कहानी लिखना उन्हें स्वीकार नहीं था। अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा उसमें बदलाव करते हुए उन्होंने नूतन कथा-प्रयोगों को शामिल करना उचित समझा। उन्होंने रिपोर्ताज लेखन, जीवन चरितात्मक उपन्यास और महायात्रा गाथा की परम्परा डाली। भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुराण उनके अध्ययन-शोध के प्रमुख क्षेत्र थे। उनकी रचनाएँ पुरातत्त्व और इतिहास से उनके विशेष लगाव को दर्शाती हैं।

रांगेय राघव की पहचान एक गम्भीर प्रगतिशील कथाकार के साथ सजग संस्कृतिकर्मी रूप में भी है। वे आगरा के 'कल्चरल स्क्वैड' से जुड़े और जब इप्टा की आगरा इकाई का गठन हुआ, तो वे इसके सक्रिय सदस्य बनकर जीवन के आख़िरी समय तक जुड़े रहे। 1942 में अकालग्रस्त बंगाल को देखने हेतु मात्र उन्नीस वर्ष की उम्र में प्रगतिशील लेखक संघ, आगरा के एक दल में वे एक रिपोर्टर के रूप में गए। यात्रा के बाद उन्होंने रिपोर्ताज 'तूफ़ान के बीच' चार भागों में ('बाँध भाँगे दाओ', 'एक रात', 'मरेंगे साथ-जिएँगे साथ' एवं 'अदम्य जीवन') लिखा, जो बहुत चर्चित हुआ। 1942-44 के बीच बंगाल में पड़े भीषण अकाल की भयावहता के साक्षी इस रिपोर्ताज में उन्होंने वहाँ की प्रतिकूल परिस्थितियों से अपने अंतर्मन में प्रकट हुई चिन्ता को उकेरा था।

1942 के आस-पास रांगेय राघव मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने लगे थे लेकिन उनके विचारपरक लेखन को गम्भीरता से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें हर प्रकार की 'वादग्रस्तता' से परहेज़ था। उनकी चिन्तन-प्रक्रिया की गतिशीलता सम्भवतः उन्हें किसी वाद-विशेष के दायरे में सीमित न रख सकी। साहित्य-लेखन के क्षेत्र में जिस प्रकार वे किसी विधा-विशेष से बँधकर नहीं रह सके, ठीक वैसे ही विचार के क्षेत्र में उन्होंने खुद को किसी वाद-विशेष से नहीं बाँधे रखा। यद्यपि उनका समूचा कथा-लेखन 1936 से शुरू होकर 1958 तक जाता है और इस बीच हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता एवं नई कहानी का दौर रहा, पर अपने ऊपर लगाए जा रहे विभिन्न वादों के आरोपों को वे नकारते रहे। मार्क्सवाद में आस्था रखते हुए भी वे जड़ मार्क्सवाद के पैरोकार कभी नहीं रहे। उनका स्पष्ट मत था विचारधाराओं को देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार बदलना होता है– 'मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि प्रत्येक देश में एक-सा ही विकास होता है। वह यही बतलाता है कि अनेक विभिन्नताओं के बीच

सम्पर्क : *ई-मेल : dsingh@hinducollege.du.ac.in*

एक समता होती है पर इसका अर्थ यह नहीं होता है कि इंग्लैंड में जो कुछ हुआ वही सब जर्मनी में भी होना चाहिए या चीन में भी उसी की पुनरावृत्ति होनी चाहिए।' [राघव, डॉ. रांगेय ; 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण 1954, पृष्ठ 256] सामान्यजन के चित्रण हेतु उन्हें किसी वाद के प्रमाणपत्र की ज़रूरत नहीं पड़ी। सामान्यजन के चित्रण में वे इस प्रकार रच-बस जाते थे कि वे स्वयं सामान्यजन बन जाते थे।

रांगेय राघव की रचनात्मकता का कैनवास जितना व्यापक है, उनकी कहानियों का रचना-संसार उतना ही विविधतापूर्ण। इसीलिए उसमें अपने समय और समाज की सामाजिक-राजनैतिक हलचलों की अनेक परतें दिखाई पड़ती हैं। बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में 'भारत छोड़ो आंदोलन', बंगाल का भयावह अकाल, मज़दूर वर्ग की देशव्यापी हड़तालें, सरकारी दमन, साम्प्रदायिक तनाव और देश-विभाजन आदि घटनाएँ आकार ले रही थीं। इस समूचे दौर में रांगेय राघव ऐसे कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द की यथार्थवादी कथा-परम्परा को आगे बढ़ाया। अपने आस-पास घट रही घटनाओं को उन्होंने न केवल मौलिकता के साथ अंतर्वस्तु के रूप में ग्रहण किया, बल्कि इसकी प्रस्तुतीकरण हेतु उन्होंने शैलीगत नवीनता को अपनाते हुए कहानी-कहन के पारम्परिक तरीक़े में भी युगांतर उपस्थित किया। उनके कहानी-संग्रह 'साम्राज्य का वैभव' (1947), 'देवदासी' (1947), 'समुद्र के फेन' (1947), 'अधूरी मूरत' (1949), 'जीवन के दाने' (1949), 'अंगारे न बुझे' (1951), 'अय्याश मुर्दे' (1953), 'इंसान पैदा हुआ' (1957), 'पाँच गधे' (1960), 'मेरी प्रिय कहानियाँ', (1961), 'एक छोड़ एक' (1963) हैं। 'कठपुतले', 'अँधेर नगरी, चौपट राजा', 'उपचेतना का तांडव', 'धूल की आँधी', 'चंगेज़ की तलवार', 'अभियान', 'गदल', 'प्रवासी', 'देवदासी', 'अनुवर्तिनी', 'कार्तिकेय', 'मृगतृष्णा', 'पंच परमेश्वर', तवेले का धुँधलका', 'पर्तों की पीड़ा', 'प्रवासी', 'गूँगे', 'कुत्ते की दुम और शैतान : एक टेक्नीक्स', 'इंसान पैदा हुआ', 'घिसटता कम्बल', 'फूल का जीवन' आदि प्रमुख कहानियाँ हैं।

रांगेय राघव के कहानी-लेखन का मुख्य दौर भारतीय इतिहास की दृष्टि से उथल-पुथल भरा रहा है। आज़ादी के संघर्ष और देश-विभाजन की त्रासदी के बीच बनते-सँवरते भारत में जनता ने एक साथ स्वप्न और दुःस्वप्न, दोनों देखे। आज़ादी के बाद सपनों के भारत-निर्माण की आशा थी तो स्वातन्त्रयोत्तर भारत में आज़ादी से मोहभंग की हताशा भी। इस पूरे दौर की शायद ही कोई घटना शेष हो, जिसकी अनुगूँज उनकी कहानियों में न सुनाई दे। आज़ादी से पूर्व एवं पश्चात वैषम्यपूर्ण परिस्थितियों के बीच अफसरों-नेताओं की मिली-जुली साँठ-गाँठ से उपजा भ्रष्टाचार, पूँजीवाद का बढ़ता प्रभाव आदि का बेबाक चित्रण उनकी कहानियों में मौजूद है। 'कठपुतले' कहानी में कहानीकार यह चित्रित करने में सफल रहा है कि किस प्रकार आज़ादी बड़े भूस्वामियों, पूँजीपतियों एवं विदेशी सत्ता के आगे कठपुतली बन चुकी है लेकिन कहानी का नायक सुभाष इन स्थितियों से खिन्न दिखाई देता है और उसके अंतःकरण में विद्रोह की भावना पनपने लगती है। विद्रोह की इस भावना के द्वारा कहानीकार अभीष्ट सामाजिक बदलाव की ज़रूरत की ओर संकेत करता है। क्रान्ति की ऐसी ही भावना उनकी अन्य कहानियों– 'अँधेर नगरी, चौपट राजा', 'उपचेतना का तांडव', 'धूल की आँधी','चंगेज़ की तलवार' आदि में भी दिखाई देती है। इन कहानियों में लेखक समाज में त्वरित बदलाव हेतु क्रान्ति की पहल करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'अभियान' कहानी में भिखारियों की बस्ती के परिवेश और उनकी जीवन-दशा का जैसा सटीक चित्रण कहानीकार ने किया है, उससे यह सहज ही लगता है कि कहानीकार अपने आस-पास के परिवेश और घटनाओं से कितना क़रीब से जुड़ा है।

रांगेय राघव भारतीय समाज की समस्याओं और वास्तविकताओं से परिचित कराते हुए उन्हीं के जीवन के बीच से कुछ चरित्र उठाते हैं। 'गदल' ऐसी ही एक श्रेष्ठ कहानी है, जो रांगेय राघव की प्रसिद्धि का आधार भी बनी। इस कहानी में ग्रामीण स्त्री 'गदल' कहानी की प्रमुख पात्र है। वह अपने परिवार एवं रिश्तों की ख़ातिर पुरुष समाज से लोहा लेते हुए अपनी निर्भीकता का परिचय देती है। कहानी में उसके जिस आक्रामक एवं चुनौती देने वाली चरित्र का सजीव अंकन हुआ है, वह हिन्दी साहित्य में दशकों पहले स्त्री-विमर्श को स्थापित करता है। 'गदल' राजस्थान के गुर्जर जाति की अपनी विश्वासों-मान्यताओं के साथ उपस्थित होकर आँचलिक परिवेश की भाषाई खुशबू से कहानी को समृद्ध बनाती है। यह कहानी चर्चित लघु-पत्रिका 'कहानी' में प्रकाशित होते ही चर्चा का केन्द्र बन गई थी। छोटे-छोटे सम्वादों ने कहानी की रोचकता में वृद्धि की है। आठ अलग-अलग भागों में रचे जाने के बावजूद कथा-रस में कोई व्यवधान नहीं आता है। 'गदल' के साथ 'प्रवासी', 'देवदासी', 'अनुवर्तिनी', 'कार्तिकेय', 'मृगतृष्णा', 'पंच परमेश्वर', तबेले का धुँधलका', 'पर्तों की पीड़ा' आदि कहानियाँ भी कथ्य और शिल्प के धरातल पर नई परम्परा का निर्माण करती हैं।

'पंच परमेश्वर' कहानी प्रेमचन्द के 'पंच परमेश्वर' के विकास की ही अगली कड़ी प्रतीत होती है। अपने समय के यथार्थ को रूपायित करने की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कहानी ठहरती है। छठे दशक में बदले हुए पंच का यथार्थ रूप इसमें दिखाई पड़ता है। दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन को आधार बनाकर रांगेय राघव ने 'प्रवासी' कहानी लिखी। गहरे मानसिक द्वन्द्व का चित्रण करने वाली यह एक सफल प्रेम कहानी है। कहानीकार इसे इस प्रकार की हिन्दी की पहली कहानी होने का दावा करता है। दक्षिण भारत के मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त धार्मिक कट्टरता, कर्मकान्ड और उसके दुष्परिणामों को यह कहानी बयाँ करती है। यद्यपि यह एक बेहतरीन कहानी है, परन्तु आलोचकों का ध्यान इस पर उतना नहीं गया। 'गूँगे' समाज के एक उपेक्षित चरित्र की कहानी है। विकलांगों के प्रति समाज में कम होती करुणा को केन्द्र में रखकर यह कहानी लिखी गई है। अमानवीय होते जा रहे समाज की मनोदशा का चित्रण इसमें दिखाई पड़ता है। इस कहानी का नायक गूँगा ज़रूर है पर वह ज़मीर का पक्का है।

रांगेय राघव प्रयोगधर्मी कहानीकार हैं। प्रयोगधर्मिता उनकी कहानियों को एक अलग स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। 'कुत्ते की दुम और शैतान : एक टेक्नीक्स' कहानी एक कलाकार के अकेलेपन की कहानी है। रांगेय राघव इसे अपनी अन्य कहानियों की तुलना में ज़्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं– 'कथानक, चरित्र-चित्रण और अन्य गुणों के हिसाब से मेरे यह कहानी जितनी पूर्ण है, उतनी और कोई कहानी इस ढंग की मैंने नहीं लिखी।' जबकि पाठकों ने 'गदल' कहानी को ज़्यादा पसन्द किया। इस पर रांगेय राघव का मानना है कि "गदल पढ़ी गई है, अन्य कहानियाँ पढ़ी नहीं गईं।"

कहानी-कला की दृष्टि से भी रांगेय राघव एक कुशल कहानीकार हैं। अपनी कहानियों में उन्होंने समाज, संस्कृति एवं मानवीय पहलुओं को अंतर्वस्तु के रूप में ग्रहण करते हुए सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक शोषण के चित्रों को भी उकेरा है। मानवतावादी दृष्टिकोण के साथ सामाजिक जागरूकता के भी प्रश्न उनकी कहानियों में मिलते हैं। 'इंसान पैदा हुआ' उनकी एक अत्यंत सम्वेदनशील कहानी है, जो कहानी कला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कहानी ठहरती है। इसमें स्वतन्त्र भारत का चित्रांकन है। पाकिस्तान का निर्माण और विभाजन की विभीषिका का चित्रण इसका मूल कथ्य है। हिन्दू-मुस्लिम द्वेष, साम्प्रदायिक घृणा और विभिन्न राजनैतिक दलों के स्वार्थपूर्ण कृत्यों का घिनौना रूप इसमें बड़ी नग्नता के साथ चित्रित हुआ है।

रांगेय राघव की सभी कहानियों का गठन मज़बूत है, ऐसी बात नहीं है। उनकी बहुतेरी कहानियाँ बहुत साधारण हैं। कुछ तो बेहद सामान्य, सम्भव है कि ऐसा संख्या की दृष्टि से अधिक लिखने के कारण हुआ हो। मसलन, 'सारनाथ के खण्डहर' लगभग चालीस पृष्ठों में भटकते हुए जोड़े की एक लम्बी कहानी है, जिसमें उदासी और निराशा के प्रसंग इसे अनावश्यक विस्तार देते हैं, पर ऐसी कहानियाँ कम ही हैं। 'घिसटता कम्बल' मानव जिजीविषा की कहानी है, जिसमें सहज जीवन की धड़कन और मानवीय-चेतना के साथ जीवन जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार का भाव नज़र आता है। 'फूल का जीवन' एक ऐसी प्रतीकात्मक कहानी है, जिसमें लेखक की करुणामयी मानवतावादी-दृष्टि और विद्रोहात्मक भावना का समंजित रूप दिखाई पड़ता है। इसमें भिखारी लड़की की बेबस ज़िन्दगी के माध्यम से लेखक यह प्रतिपादित करने में सफल रहा है कि 'ज़िन्दगी से करुणा नहीं जागती, जागता है करुणा के माध्यम से विवेक।' [-राघव, डॉ. रांगेय; 'फूल का जीवन', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', पृष्ठ-99]

रांगेय राघव मूलतः तमिल भाषी थे, परन्तु हिन्दी पर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी कहानियों की भाषा-शैली कथ्य को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। 'कुत्ते की दुम और शैतान : नए टेक्नीक्स' जैसी प्रयोगशील कहानियों के लिए उन्होंने कहानी-कहन की नई शैली अपनाई। उनकी कहानियों का भाषा-सौष्ठव प्रभावोत्पादक है। यथार्थता उनकी कहानियों की भाषा का एक महत्वपूर्ण गुण है। तत्सम प्रधान शब्दावली की प्रमुखता के साथ देशज, उर्दू एवं अंग्रेज़ी शब्दों का भी ज़रूरत के अनुरूप प्रयोग मिलता है। 'धरती मेरा घर' कहानी में गाढ़ोतिया लुहारों की स्थानीय भाषा की झलक मिलती है तो 'कब तक पुकारूँ' में भरतपुर की ग्रामीण भाषा का सजीव रूप दिखाई पड़ता है। रांगेय राघव सम्वादों के माध्यम से कहानियों को विस्तार देते हैं। परिवेश, पात्र और घटनाओं को सम्वादों द्वारा ही आकार मिलता है। सम्वाद-शैली की रोचकता कहानियों को नया कलेवर प्रदान करती है। कहीं वर्णनात्मक शैली प्रयुक्त हुई है तो कहीं आत्मकथात्मक। प्रतीकात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली भी स्वतः आ गई है। भाषा में लाक्षणिकता एवं स्थानीय कहावतों का भी बखूबी प्रयोग दिखाई पड़ता है। उनके लेखन का कलात्मक पक्ष अत्यंत रोचक, प्रभावोत्पादक एवं प्रसंगानुकूल ही नहीं बल्कि तकनीक में नवीनता भी अपने में समेटे हुए है। बिम्ब योजना अर्थपूर्ण है तो नए प्रतीकों का प्रयोग कहानियों की विशेष उपलब्धि है।

विशिष्ट और बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न रांगेय राघव मूलतः मानवीय सरोकारों के रचनाकार हैं। मनुष्य का जीवन, उसकी पीड़ा, उसके सुख-दुख और उसकी जिजीविषा को ही सत्य मानते हुए उन्होंने इनके चित्रण को अपनी कहानियों में प्रमुखता से उभारा। हिन्दी के वे एक ऐसे कहानीकार हैं, जिन्होंने कहानियों में मनुष्य की सत्ता की पुनर्स्थापना द्वारा युग-प्रवर्तन का कार्य किया। उन्होंने मनुष्य के तत्कालीन जटिल जीवन में मानवता की पुनर्रचना को अपने लेखन का उद्देश्य बनाया। उनकी ओज-शैली और प्रवाहमयी भाषा इसमें सहायक बनी। वह कहानियों के चरित्र जीवन से उठाते हैं। ❑

'पप्पू' अर्थात अजाना रांगेय राघव

पृष्ठ 10 से आगे...

तो तब चर्चित हुए ही थे। प्रभातफेरी में गाया जाने वाला उसका एक गीत लेखक ने दिया भी है-

'बापू बोल, बोल, बोल
यह है देश की पुकार
जिन्ना बोल, बोल, बोल
यह है देश की पुकार।
सोने की इस बंगभूमि में
मचता हाहाकार
मानवता से टकराया है
कंकालों का ज्वार। बापू बोल---
आज करोड़ों की आशा की
तुम दोनों पतवार
रूठे माँझी हाथ बढ़ाओ
डूब रही है नाव। बापू बोल---।'

पुस्तक बताती है कि सन् 1945 में पप्पू ने शोध करने की ठान ली थी। वह 'गोरखनाथ और उनके युग' पर काम करना चाहता था। उसमें खोजी प्रवृत्ति तो पहले से ही थी। अपने समापन तक यह पुस्तक यह सच खूबसूरत अंदाज़ में खोलती है कि मनमोहन के लिए आगरा के साथ ही पप्पू का साथ भी छूट गया। इन मित्रों के बीच चलने वाली बेहद अनौपचारिक भाषा देखकर कोई भी रश्क कर सकता है। पप्पू की यह भाषा पत्रों में भी चला करती थी- "कल रात बड़ी देर तक फ़ॉसिलों की याद आती रही। तेरी भी आई। क्या बेच रहा है इन दिनों?" जवाब में मनमोहन भी उसे कविता में पत्र लिख भेजता। इन मित्रों के बीच पत्रों में ही नोक-झोंक चलती रही है।

मनमोहन ठाकौर के पास ऐसा अनूठा गद्य है कि 'पप्पू' पढ़ने वाला उसे शुरू भर कर दे, अंत तक पूरा रस लेकर पढ़ने पर विवश हो जाएगा। इस महत्वपूर्ण कृति की जैसी चर्चा होनी चाहिए थी, वह न हो सकी। यह दुखद है। इसी के माध्यम से समझा जा सकता है कि पप्पू रांगेय राघव बना किस परिवेश में! ❑

● शताब्दी स्मरण : कहानी



धर्म-संकट

रांगेय राघव

एक छोटी-सी जगह के पीछे दिन-रात झगड़ा बना रहता। सामने एक बड़ा शीशा लगा था जिसमें शक्ल जब हिलती हुई दिखाई देती तो देखने वाले को अपनी सूरत के बारे में जितने विचार होते वे सब मुग़ालते में बदलते हुए नज़र आते।

उसे वे लोग दुकान कहते, इसलिए एक बड़ा लाल पत्थर बिछा रहता जिस पर पान-लगे हुए बीड़े रखे रहते और लकड़ी के ख़ानों में ख़ाली सिगरेट के पैकेट ऐसे जमे रहते जैसे वे सब भरे हुए थे। इनके अतिरिक्त कुछ बीड़ियों के बण्डल झलका करते।

एक ज़माना था जब बड़ी दुकान बाज़ार में ठाठ से खुलती थी। उसके रहते जब मोहल्ले में भगत का रतजगा हुआ, हरदेव सदा चाँदी की पाड़ के निकट बैठा करता।

पर अब सच कहाँ था? वह एक सपना था जो अचानक ही मिला था और अचानक ही खो गया। शराब के नशे ने जब अपने ज़हरीले पंजों का फैलाव समेट लिया और दिमाग़ को खाने लगा, तब आँख खुली। देखा, सब लुट चुका था।



बाप की दुनिया संकुचित थी। वह अब क़रीब पचास साल का था। दो-एक शायद ऊपर ही होगा। उसका मुख गम्भीर था जिसे देखकर भिखारी सहज ही उससे भीख माँगने की हिम्मत नहीं कर सकता था। वह अधिकांश चुप रहता। उसके गालों पर एक खुरदुरापन था और सिर के छोटे-छोटे बाल उसकी गम्भीरता को अधिक बढ़ाते। कभी-कभी जब वह हँसता तो उसमें भी एक बड़प्पन होता। धोती और कुर्ता पहनकर जब वह खड़ा होता। उसके कंधे तनिक आगे को झुके हुए दिखाई देते। जब दुकान पर कोई चीज़ नहीं होती और गाहक उसकी माँग करता वह गाहक की ओर देखे बिना ऐसे मना करता कि गाहक फिर दूसरी बार उसके यहाँ कभी नहीं आता।

और लड़का दूसरी तबीयत का आदमी था— हँसमुख, मस्त-सा दिखने वाला। शक्ल में बेटा बाप से मिलता-जुलता था। जैसे पहले मोम में बाप का साँचा लेकर फिर उसमें बेटे का ढाल दिया गया हो। उसके दाँत ज़रूर कुछ बड़े थे। सुती हुई देह थी। और जब वह शाम को थका-माँदा भाँग पीकर बैठता और ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ें लगाता हुआ हँसता, तब उसकी अधखुली नशीली आँखों में ज़िन्दगी की रौशनी चमकती हुई दिखाई देती, उस समय वह बहुत प्यारा दिखाई देता। उसके कपड़े अजीब होते। नंगे बदन से लेकर कुर्ता, फ़तूही, मिर्ज़ई, वास्केट, कोट, सब ही उसके ऊपर फबते दिखाई देते और ऐसे अदलते-बदलते रहते जैसे ज़मीन पर अलग-अलग ऋतु में अलग फल निकलते हैं।

लेकिन बेबात की बात में दोनों में झड़प हो जाती और वे दोनों नाख़ुश होकर एक-दूसरे को गालियाँ देते।

इन दोनों के बीच का प्राणी एक स्त्री थी। वह एक की पत्नी थी, दूसरे की माँ अर्थात् हरदेव की स्त्री और भगवानदास की माता। वह दोनों के झगड़े में मध्यस्थ बनती। पिता और पुत्र में वही भेद था जो शराब और भाँग में होता है। शराब में दिमाग़ घूमती है, उसका नशा शोर करवाता है, दंगा मचवाता है, किन्तु भंग में तरंग होती है, दिमाग़ ऊपर उठता है और आदमी बोदा हो जाता है।

अक्सर वह इन दोनों के झगड़ों से तंग आकर कहती,"अब नहीं रहूँगी मैं यहाँ! मैं तो अपनी बेटी को लेकर अपने भैया के घर चली जाऊँगी। एक दिन की हो तो कोई बात है। यह तो रोज़-रोज़ का बजता ढोल है। कोई कहाँ तक सम्भाले! जब हिये में समुवाई नहीं रही तब क्या फ़ायदा।"

किन्तु कोई परिणाम नहीं निकलता। हरदेव बड़बड़ाता रहा, वह कभी उसे रोकती, कभी उसके अदब में चुप रहती और भगवानदास बग़ावत करता रहा, उसकी आवाज़ उठती रही। न उसने अपनी बहू की सुनी, न बहन की, न माँ ही बेटी को लेकर भैया के घर चली।

शाम होते ही दुकान पर दोनों में तनातनी शुरू हो जाती। दोनों अपने को ज़्यादा परिश्रमी साबित करते। एक-दूसरे पर अपनी थकान का प्रदर्शन करते। शिकवा होता कि एक-दूसरे की यही कोशिश है कि बस दूसरा कोल्हू में बैल की तरह जुता करे, टूटा करे।

रात होते-होते दोनों आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें करने लगते। हरदेव शीघ्र ही गर्म हो उठता। उसे पड़ोस के मुंशीजी जिस दिन देसी अद्धा पिला देते, उस दिन वह शहंशाह हो जाता। बेटा भाँग से आगे न बढ़ता। दोनों एक-दूसरे को नशेबाज़ समझते और जब भगवानदास क्रुद्ध हो उठा, उसने चिल्लाकर एक दिन सुना-सुनाकर कहा, "शराब पिलाने को मेरे पास पैसे नहीं हैं, न ही कोई कमा-कमा के रख गया है मेरे पास।"

माँ ने सुना और पूछा, "वह तेरा कौन है?"

भगवानदास चुप रहा। वह जानता है, पर आज उसकी आत्मा स्वीकार नहीं करना चाहती। माँ उसकी द्विविधा को समझ गई। उसने स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ रखकर कहा,"क्यों ऐसे कुबोल कहता है बेटा! घर की शान्ति आपस में मिलकर रहने में मिलती है। यों नहीं होता कुछ। आख़िर है तो तेरा बाप ही न!"

माँ का तर्क कुछ ठोस था। आवेश पर धैर्य ने विजय पा ली थी। और तब भगवानदास ने पराजित स्वर में कहा,"होगा कोई। जब अपने की चिन्ता ही नहीं की तो कौन किसका है, अम्माँ!"

"ऐसे नहीं कहते, बेटा। जो भाग है मिल-बाँटकर खा लो। झगड़ने से सब नीचे ही फैलता है।" "पड़ोसी की कौन रखवाली करता है अम्माँ,' भगवानदास अचानक ही कह उठा। उसके स्वर में कोई आत्मीयता नहीं थी। मानो भगवानदास बहुत आगे बढ़ आया था।

माँ को दुःख हुआ। वह यह न सुनना चाहती थी। जैसे आज उसका हृदय दो टूक हो जाएगा। यह वह क्या सुन रही है! घर की पुरानी दीवार आज उसके देखते-देखते चटक रही है। मन में संशा का विष सबसे बुरा है।

रात को वह अकेली पड़ी-पड़ी सोचती रही।

एक ओर मरद है, दूसरी तरफ़ बेटा। वह किधर जाए! कब तक यह तनातनी बनी रहेगी। एक दिन तो लेज को टूटना ही पड़ेगा। अब भगवानदास और उसका बाप दोनों उसकी आँखों के सामने आने लगे। एक बालक, जिसे वह दूध पिला रही है, वह बच्चा जिस पर उसका पूरा अधिकार था, जिसे उसने आदमी बनाया है। एक वह सदैव ही पुरुष था, सशक्त था, उसे लगा, हरदेव के सामने भगवानदास एक बच्चा था, उसके सामने वह बहुत कमज़ोर था।

उस सम दुकान में भगवानदास जागकर उठ बैठा। उसने एक अंगड़ाई ली और दो बार अपनी झुँझलाहट मिटाने को बम भोले का नारा लगाया जो नीम के पत्तों में जाकर लटका, फिर उड़ गया।

गाँव वाले होशियार हो गए हैं। शहर के लोगों को देखकर हँसते हैं। पाँच के माल की क़ीमत पच्चीस रुपये बताते हैं। सीधा देखा तो साफ़ बता दिया। ककड़ी लेने तभी भगवानदास अलसुबह, बल्कि दो बजे रात को, रात ही कहना चाहिए, सिर पर ख़ाली डलिया रखकर चल देता है। जब लौटता है तब आसमान में सफ़ेदी फैलने लगती है। उसके शोर से दुकान में एक जगार-सी आ गई।

हरदेव ने देखा। उस वक़्त उसका सिर भारी था। अभी नशा उतरा नहीं था। ख़ुमारी का कसैलापन उसके मन को अब एक बुरा-बुरा-सा खट्टापन दे रहा था। भगवानदास चला गया। क्या सो पाया! कुछ नहीं। अब दिनभर फल-ककड़ी बेचेगा, लू में, धूल में, पर हरदेव को इसकी एक भी बात याद नहीं आई। वह सोच रहा था दिनभर के बाद अब ज़रा पलक लगी थी। उजड्ड ने हाहा हूहू करके जगा दिया। आया बड़ा भगत का।

जब हरदेव उठा तो उसके पाँव टूट रहे थे। धूप चढ़ने लगी थी। उसने दुकान खोल दी और अपने नित्य-कर्म में लग गया। भगवानदास दस बजे के क़रीब डलिया लेकर घर आया, इसी मोहल्ले में ककड़ी बेच रहा था, सो डलिया धरकर रोटी खाने बैठ गया। माँ खिलाती रही।

हरदेव धूप की कड़ी गर्मी से अब कुछ खुश्की महसूस करने लगा था। दिन में जब उसने देखा कि अभी तक भगवानदास की अम्माँ ने रोटी नहीं भेजी और वह वहाँ उपेक्षित भुलाया हुआ-सा बैठा है, तब उसे एक कमी अनुभव हुई और आत्महीनता की तीव्रता पर वह झल्ला उठा। उसने सोचा, 'क्यों मैं इनके हाथ पर निर्भर रहूँ! क्यों न अलग यहीं दो रोटी थाप लूँ!'

किन्तु यह विचार अधिक देर तक नहीं चला। उसकी पत्नी ने लाकर कटोरदान सामने रख दिया।

"ले जाओ," हरदेव ने गम्भीरता से कहा, "मैं नहीं खाऊँगा, पहले उसे चरा दो। लाडला है न? मुझसे क्या? मैं भूखा मर जाऊँगा, ले जाओ।" उसकी आवाज़ में एक हठ था। स्त्री मुस्कुराई। उसने परिस्थिति को समझा। कहने लगी,"तुम्हारा ही बेटा है ढोला। एक दिन तो झक्क दोपहरी में उसे आने का संयोग हुआ, उसी दिन तुम बैठे ग़ुस्सा हो रहे हो। बाल-बच्चों का पहला हक़ है कि हमारा-तुम्हारा? भली कही। नहीं खाऊँगा। ले जाओ। खेल है सो? वह कोई खेलता है कि आवारागर्दी में घूमता है? न सोता है, न बैठता है, दिनभर तुम्हारी ही ख़ातिर में लगा रहता है, आख़िर उसकी तो बहन है...।"

हरदेव सुनता रहा, सुनता रहा। अब वह टूटा, "ले जा सब, मुझे तू याद मत दिलाया कर।"

परन्तु स्त्री उसे जानती थी। कटोरदान खोल दिया। पकी-पकाई दिखाई देने लगी। स्त्री का यह पेट पर चलने वाला हथियार उसके आँसू इत्यादि हथियारों से कहीं ज़्यादा आसानी से कारगर होता है।

हरदेव पिघला। रोटी का कौर तोड़कर कहा,"मैं नहीं कहता कुछ। पर तू तो उसे ही शह देती है। मेरी बात सुनता है वह? इस कान से सुनी उससे उड़ा दी, जैसे बात नहीं हुई मक्खी हो गई। अँधेर है यह। यह तुम दोनों का अँधेर है। अब समझ रहा हूँ मैं, हाँ।"

वह परेशान-सी देखती रही। यह समस्या अत्यन्त जटिल थी।

"कौन? मैं? उसकी तरफ़ बोलती हूँ?" उसने एक वाक्य को तीन प्रश्नों में जोड़कर कहा, जैसे समष्टि से व्यष्टि में होता हुआ अहंभाव अंत में अपनी नकारात्मकता में स्वयंसिद्ध हो गया। वह कहने लगी,"तुम इस घर से अलग हो? मैं पूछती हूँ, तुम अपने को घर का मालिक क्यों नहीं समझते? बेटी का ब्याह तुम्हें नहीं करना है? वह सिर्फ़ माँ-बेटे की ज़िम्मेदारी है? बेटी तुम्हारी नहीं है? कह दो! मैं पूछती हूँ, आज कह दो!"

हरदेव भुनभुनाया,"अब तो बेटा भी ज़िम्मेदार हो गया, ठीक है। जो ज़िम्मेदार है वही मालिक है। फिर मेरी क्या ज़रूरत? इस लौंडे का ब्याह कराके ही मुझे क्या सुख मिल गया है?"

स्त्री मुस्कुराई। उसने कहा,"क्या कहते हो। बेटा-बेटी का ब्याह करके नेग चुकाया जाता है कि सुख की आशा की जाती है?" किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हुई। वह जब चली गई, हरदेव दुकान पर बैठा-बैठा ऊबने लगा। मुंशीजी का लड़का दो बार बुलाकर चला गया। शाम को भगवानदास लौटा। हरदेव भुना बैठा था।

दिन में सख़्त गर्मी थी। लुओं की चपेट से देह झुलस-झुलस जाती थी। वह आड़ में लेटा रहा। आकाश से आग बरसती रही। इस समय वह वहाँ से उठना चाहता था।

भगवानदास समझ गया। उसे खीझ हुई। दिनभर यहाँ लुओं में चक्कर लगाते-लगाते शरीर फुँक रहा है और राजा साहब हैं कि आड़ में भी दुकान पर नहीं बैठ सकते। इन्हें तो नींद चाहिए, नींद।

कुछ न कहकर चुपचाप वह मन्दिर के नल पर नहाने चला गया। शरीर पर नल का पानी कुछ-कुछ सीटा-सीटा-सा लगा और एक हल्की फुरफुरी आई। वह शिथिल-सा पानी की धार के नीचे बैठा रहा। मज़ा आ रहा था, जैसे इस ठंडक से धूल के साथ सारी हरारत, सारी थकान बह-बहकर निकल रही हो। उसे काफ़ी देर हो गई।

जब वह नहाकर लौटा तो सीधा रोटी खाने घर चला गया क्योंकि भूख तेज़ हो गई थी।

हरदेव ने देखा। वह क्रोध से काँप उठा, नवाब का बच्चा, क्या कहते हैं, अब मुंशीजी क्या रातभर बैठे रहेंगे? एक तो बेचारे बुलाकर पिलाते हैं, तिसपर कब तक इन्तज़ारी करेंगे.? आया था, ख़ैर नहा ले भाई। अभी लड़का है, तेरा बख़त है, पर यह क्या कि अब चल दिए बदन फटकार कर। हरदेव सोचता रहा। विचार एक रूप होकर घिरने लगे : बस इसे क्या? भाँग पी ली और सो रहा। एक बार न सोचा होगा इसने

काम करेगा। बस जैसे इसके बाप ने मुझे नौकर रख लिया है कि बैठ, सौदा बेच, जो गुल्लक में आए सो इधर दे इधर....

हरदेव को गुस्सा घेरने लगा जैसे शिकारी जानवर को घेरता है, जैसे चारों तरफ़ बाजे बजाती हुई भीड़ बढ़ी आ रही है और वह लाचार बाहर निकलता चला आ रहा है। उसे लगा, उसके विरुद्ध सारा घर मिलकर एक हो गया है। वह क्यों उन्हें अपना समझता है। वे सब उसे उल्लू बनाकर रखना चाहते हैं, जैसे वह उन सबका गुलाम है।

इस विचार-जुगुप्सा ने जैसे उसका एकदम दम घोंट दिया। उसे लगा, वह मँझधार में डूब रहा है। अब वह फुफकारने लगा, जैसे मोहल्ले के सब कुत्तों ने मिलकर एक कुत्ते को घेर लिया और उसकी निर्बल आत्मा पिछली टाँगों में दुम दबाए, दाँत निकालकर चिल्ला रही है, वह प्राणपण से अपने को मुक्त करने की चेष्टा कर रहा है : बुड्ढा! वह बुड्ढा हो चला है। वे चाहते हैं कि वह अपाहिज-सा उनका हुक्म बजाता रहे। अब जैसे उसकी कोई मर्ज़ी नहीं रही। कल तक वह जहाँ मालिक था, आज वह वहाँ गुलाम बनकर रहेगा?

उसने दुकान बढ़ा दी। असह्य दुख से उसकी आत्मा छटपटाने लगी। क्यों करे वह किसी की परवाह? ऐसे रहने में उसे क्या सुख मिलता है?

घर पहुँचते ही वह चिल्लाने लगा,"कहाँ है तेरा सपूत कुलच्छनी? मैं कोई आदमी थोड़े ही हूँ? जब देखो, जुता रहूँ। क्यों खाता हूँ, क्यों पीता हूँ? फूटी आँखों अब मैं नहीं सुहाता इस घर में। इस तरह रहने से तो मर जाना अच्छा है। चौबीसों घण्टे मैं तो दुकान में मक्खियाँ मारूँ..."

स्त्री ने देखा और शान्त रही। हरदेव कहता रहा, "और नवाब के बच्चे हैं कि सड़कों पर टहल रहे हैं।"

हरदेव गरज रहा था। उसका क्रोध भगवानदास के चुप रहने से बढ़ता जा रहा था। उसे लगा, वह जन्म-ज़िन्दगी से ऐसे ही उपेक्षित रहा है, मूर्ख समझा जाता रहा है। इस घर से उसे वह सम्मान नहीं मिल रहा जो उसके योग्य था।

भगवानदास ने कौर-भरे मुँह से कहा,"सुहाए वह जो सुहाने लायक काम करे। अपना है तो क्या, साँप भी पास सुलाने को है? नहीं हम बैठे रहते हैं जो पाँव मख़मली हों। ठेक पड़ गई है चलते-चलते; दहूँ ठेक पड़ गई है।"

बाखर में शायद लोग सुन रहे होंगे। क्या सोचते होंगे कि आज बाप-बेटे में तू-तू, मैं-मैं हो रही है। यह विचार अधिक देर तक नहीं रहा। किसके घर के चूल्हे के पीछे राख का ढेर नहीं है, घर-घर वही मिट्टी के चूल्हे हैं।

माँ ने बेटे को डाँटा, "क्यों रे! बाप के मुँह लगता है? जानता है उसकी इज़्ज़त से तेरी जीभ घिस जाएगी?"

"आहा," हरदेव ने सिर हिलाकर व्यंग्य से कहा, "एक यही सपूत तो मेरी इज़्ज़त करने को रह गया है। मेरी पाँव की जूती मेरे सिर की इज़्ज़त करेगी? मुझे नहीं चाहिए ऐसी इज़्ज़त।"

भगवानदास ने खाना छोड़ दिया। वह उठ बैठा और द्वार की ओर चलते हुए कहने लगा,"अब नहीं रहना है मुझे इस घर में। समझी अम्माँ? तू रह, वह रहे, मैं नहीं एक मिनट रह सकता। कोई बात है। दिन क्लेश, रात क्लेश, चौबीसों घंटे की झिकझिक। इससे तो संखिया खाकर सो जाना भला है।"

माँ ने दौड़कर पकड़ लिया।

"क्या कर रहा है बेटा," फिर पति से मुड़कर कहा,"आग लगे तुम्हारे फूटे बोलों को। थाली पर से मेरा बेटा उठा दिया।"

"अरे तू जाने दे इसे। ब्याह के मैं लाया था तुझे। तूने ही इसे इतना मुँहुचा बना दिया है। वह दिन भूल गया जब पिल्लों की तरह नाली में खेलता था। हम भी बच्चे थे, हमारा भी कोई बाप था, पर हमने कभी सामने खड़े होकर जवाब नहीं दिया। और तू है कि बेटा ले बेटा। निकाल इसे! बेईमान! बदज़ात!"

"और वह दिन तुम भूल गए," भगवानदास ने चिल्लाकर कहा, "जब कुत्तों की तरह नाली में पड़े थे शराब पीकर, जब मैंने उठाया था तुम्हें, जब दुनिया का गन्दा चाट रहे थे।"

उसकी चोट से हरदेव तड़प गया। उसने बढ़कर कहा,"अब तो कह। हाँ, कह तो देखूँ। सूअर! हलक में हाथ डाल के जीभ खींच लूँगा।"

वह चिल्ला उठी,"भगवानदास! कपूत! बाप से सामना करता है? उसकी तुझसे एक बात नहीं सुनी जाती?"

भगवानदास ने माँ को पीछे धकेलकर कहा,"आज यह नहीं मानेगा। कहूँगा, कहूँगा, फिर कहूँगा! क्या कर लेगा, हाँ, ले मैं कहता हूँ, सारी बाखर सुने। आया बड़ा डराने वाला, जैसे मैं कोई बच्चा होऊँ, शराबी।"

हरदेव का हाथ उठ गया। माँ बीच में जूझ पड़ी किन्तु दोनों क्रोध से मतवाले हो रहे थे। एक हाथ घूमा। वह छिटककर दूर जा पड़ी। दोनों लड़ रहे थे।

आख़िर बेटा जवान था। हरदेव के दो-चार हाथ कसके पड़ गए। हरदेव क्रोध से काँपने लगा। उसका मुख भयानक हो उठा। दाँतों की नोक दिखाई देने लगी । हरदेव ने फूत्कार किया,"आज तेरी माँ न होती तो छाती फाड़कर खून पी लेता, पर इसकी वजह से तुझपर मेरा हाथ नहीं उठता।"

माँ भगवानदास को कोसती हुई चिल्लाने लगी, "अरे तेरा नास हो जाए कपूत। बाप पर हाथ उठाते तुझे लाज न आई! वह क्या इसी दिन के लिए बूढ़ा हुआ है? कमबख़्त! तुझमें हया का लेस भी नहीं रहा! इसका तो मैंने पैदा होते ही गला घोंट दिया होता भगवान!" स्त्री की ललकार सुनकर उसी समय हरदेव ने सारी ताक़त लगाकर भगवानदास को कसके धक्का दिया। गुत्थमगुत्था फिर शुरू हो गई। माँ चुपचाप खड़ी देख रही थी। उसे लग रहा था जैसे सारी दुनिया अब घूमने लगी है। लड़के के प्रति उसे अत्यन्त विक्षोभ था, घृणा थी। वह देख रही है, उसका जाया आज घर में आग लगा रहा है। वह चिल्लाना भी भूल गई। हठात् हरदेव ने भगवानदास को फेंक दिया। वह कातर स्वर से चिल्ला उठी। दौड़कर अपने बेटे को सम्भाल लिया। उसने देखा, दीवार से टकरा जाने से भगवानदास के सिर से खून निकल रहा था। पास बैठ गई। सिर गोद में ले लिया। बेटे पर बेहोशी-सी छाई थी।

हरदेव हाँफ रहा था, जैसे उसने एक बहुत बड़ा काम कर दिया है। अब भी वह इतना दम रखता है कि अपनी इज़्ज़त अपने-आप बचा ले।

भगवानदास ने अधखुली आँखों से माँ को देखा। वह उसके सिर से बहते हुए खून को देख रही थी। उसने क्रोध से जलती हुई आँखों से देखकर कहा, "तुम चले जाओ। अभी घर से निकल जाओ। तुम मेरी गोद में आग लगाना चाहते थे? जिसे मैंने इतने दिन तक अपनी कोख में रखा, उसे तुम मार डालना चाहते थे?"

हरदेव हतबुद्धि खड़ा रहा। स्त्री कहती रही, "जिनावर! जंगली! हाथ न टूट गया तुम्हारा जो इस फूल को मसलने चले थे।" और उसने पुचकारकर कहा, "उठो बेटा, अब हम इस घर में नहीं रहेंगे। वह दुकान इसी की रहे, देखें कैसे चला लेता है। हम-तुम मेहनत करके पेट पाल लेंगे।" ❑

('रांगेय राघव ग्रन्थावली-7' से साभार)

● रांगेय राघव की अप्रकाशित कविताएँ

वामन मैं त्रिदिक बाँधूँगा

बाँधूँगा, बाँधूँगा....
सब कुछ को....
द्रौपदी चीर से शब्द खुलते गए,
किन्तु अभिव्यक्ति रही दासी-सी विवश म्लान
करती रही ध्यान
उस सर्वेश का
जो चौपड़ था खेल रहा
अपने त्रिभुवन-व्यापी मस्तिष्क का एक भाव
मेरे शब्द से अटकाए रहा,
किन्तु मुझे मिला क्या?
हाहाकार....
कब मिलेगी स्वतन्त्रता?
सत्य, बल, ओज, रूप और ज्ञान
मेरे पाँच पतिबद्ध-संस्कार
जुए में दाँव चुके हार,
अंधे का शासन है,
मुझे कहाँ मार्ग?

सारी भूमि एक लघु वायु की झकोर
एक है स्पंदन-भर...
उतने को स्वर में समेटती ही
सब कुछ मेरा हो जाता है विकीर्ण,
विकिरण में ज्योति तो बनता हूँ
पर फिर भी अंधकार में भटकने को
बिखर जाता....
तभी मुझे लगता है...
जब तक मैं बँधा हूँ स्वयं में ही
तब तक ही अन्यों को सकता हूँ बाँध यहाँ...
कह सकता
बाँधूँगा...

अविजित की किरणें

हरसिंगार के फूलों की ज्योत्स्ना झरती है,
किसके सहज स्पर्श से चन्दा स्वर्ण बन
गया...
किस पारस से
मेरी धरती भी सोना ही बन जाएगी?
ए हो बीजांकुरा! तुम्हारे
हाथों में पारस आकर भी
क्यों है ऐसा लौह बन गया...।

भीतर की दीवारें
(एक)

खोलो अब बन्द नयन
सपनों की मेहराबें, यादों के गुलम्बर सब,
छलना हैं, छलना हैं...
छोड़ो वह जीर्ण सदन!
खोलो अब बन्द नयन!

छाया था अंधकार
घनी घास जैसा श्याम दुर्निवार,
किरण पगडंडी अब दीख रही भेद कर
उसको सुदूर तक
दृष्टि के बटोही को चलने दो,
मन्ज़िल है अभी दूर
वातायन मन के उधारो तुम
होते क्योंकि म्लान वदन!
खोलो अब बन्द नयन!

नीला नभ काँच सदृश फैला यह
हीरे की कनी बन आता है सूर्य अब
काटने को इसकी वह कठिन देह,

पारस-सा ज्योति-स्पर्श माटी को कर देगा
सोना अब,
चन्दन हो तुम तो साँप अनिमंत्रित आएँगे,
किन्तु तुम महानता के भाल पर चढ़ोगे नहीं,
जब तक निज जालों को पत्थर पर रम-रम
घिसोगे नहीं,
मुखिरत हो कलरव से विजन पवन
गूँजेगा जैसे ही वंशीस्वन
स्वरों के पंथों में पाओगे विजयों के
अभिनन्दन,
खोलो अब बन्द नयन!

भीतर की दीवारें
(दो)

माँगो मत मुक्ति कमी दुःखों से
मोक्ष प्राप्त करके भी सृष्टि के तो बन्दी ही
रहोगे तुम,
बुद्ध, अवतार, पैग़म्बर या जिनेन्द्र
बनकर भी तुम्हें
मधुर हास शिशुओं से लेना होगा उधार,
फूलों की नश्वरता में से ही रूप तुम्हें
चुनने को विवश आप होना ही पड़ेगा हार,

कैसा भी सर्जन हो
प्रलय की कसौटी पर कस कर ही पाओगे
जीवन का स्निग्ध प्यार
सुखों का बंजारा
तड़पन की राहों पर लाता है अपने अनमोल
माल,
अतएव रोम-रोम श्वास-श्वास आकर्षित कर
लो तुम,
शक्ति के प्रतीक बनो
केहरि से अंबर पर ज्योति खड़ी देती है
आवाहन,
खोलो अब बन्द नयन।

अमृतपुत्र
दुःखों से भागो मत,
माया कह टालो मत,
जिस क्रम में जन्मे हो,
जिस क्रम में मरना है,
उस क्रम का क्रम है यह!
बहने दो सागर पर अपना जलयान अमय
लंगर मत डालो तुम।

भीतर की दीवारें
(तीन)

गौरव के पंछी की होगी जब ठौर नहीं,
बैठेगा आप आ तुम्हारे मस्तूल पर,
स्तर का जल
तल का जल
दोनों ही कभी बुझा सकते नहीं
ऐसी तुम लिए प्यास!
जड़ता में पीड़ा जब आई है
तब ही तो तुम भी यों आप बने चेतन मन।
खोलो अब बंद नयन
ज्योति बन जाओगे? जलोगे नहीं?
पर्वत को लाँघोगे? थकोगे नहीं?
ज्योतिपुत्र
क्षितिजों की बाँह उठा थामो अब
मृग जैसे चपल-चरण-दिनकर को गतिपथ में,
सदियों की पलकों का मार हटा
अमृत का वर्षण-सा पीलो अब
झंकृत कर जय-जय से तुम त्रिभुवन।
खोले अब बन्द नयन। ❑

(सभी कविताएँ रांगेय राघव के अप्रकाशित कविता-संग्रह 'किरणें बुहार लो' से। सौजन्य : सुलोचना रांगेय राघव और सीमन्तिनी राघव)

● भाषांतर (कहानी)



बतुकम्मा का जन्म

चन्दु तुलसी

तेलुगु से अनुवाद : एस. के. साबिरा

"माँ के लिए उसकी औलाद जितनी प्यारी होती है... किसान के लिए खेत और फ़सल उतने ही प्यारे होते हैं... आप उसका उतना ही ध्यान रखेंगे तब कहीं जाकर पेट का बच्चा और फ़सल आपके हाथ आएँगे, वरना दोनों से हाथ धोना पड़ेगा। है न, बाबूजी।"

मूँग के खेत की क्यारी के बीच से अपने पति नागय्या से जो उससे दूर था, बात करते हुए मूँग की फलियों को जल्दी-जल्दी तोड़ रही थी पूलम्मा। मूँग की फलियाँ जल्दी-जल्दी बोरी में भर रही थी और घने बादल छाए आसमान की तरफ़ डरते हुए देख रही थी।

गड़-गड़-गड़-ड़

अचानक बहुत ऊँची आवाज़ के साथ उत्तर दिशा में कुछ ऐसा चमका मानो आसमान फट पड़ा हो। आसमान में चमक के बाद आने वाली बिजली की आवाज़ बादलों के बीच से कहीं ज़्यादा पूलम्मा के दिल में प्रतिध्वनित हुई। लगातार चमकने वाली बिजलियों से वह चौंक उठती थी। उत्तर दिशा में बिजली चमकी कि समझो, पानी बरसेगा ही बरसेगा। पच्चीस वर्षीया पूलम्मा का अनुभव उसे चेतावनी दे रहा था कि आज बारिश से पीछा छुड़ाना नामुमकिन है।

आसमान में काले घने बादल घिर आए हैं...

लगता है, बादल ख़ूब बरसेंगे। बारिश हुई कि समझो मूँग की फ़सल बर्बाद। भैंसों के झुंड से घने बादल सूरज को घेर लेने से अँधेरे का चीता दौड़ते हुए आने लगा,"पूरे छह महीने कमर तोड़ मेहनत कर की गई खेती इस मायावी बारिश के कारण हाथ आने से पहले ही चली जाएगी..." सोचकर पल-पल चिन्तित हो रही थी पूलम्मा।

पूलम्मा एक ओर इतनी परेशान थी और उसका पति नागय्या है कि आराम से दूसरी क्यारी में खड़े होकर मूँग तोड़-तोड़ कर खाए जा रहा था। वह ज़ोर से चिल्लाकर पति को आवाज़ देती है, "अजी ओ... सुन रहे हो। जब फूटा हो भाग तो जली मछलियाँ भी पानी में चली जाती हैं। ऐसी ही कुछ है हमारी खेती की हालत आज। चार मज़दूरों को ले आते, दो दिन में ख़त्म हो जाता काम।"

"मैंने पहले ही कहा था। मज़दूरों की क्या ज़रूरत है? हम ही चुन लेंगे मूँग, कह रही थी तुम..." अब देखा पानी के ज़ोर पकड़ने से मूँग भीग जाएगी तो किस काम की...? फफूँदी लग जाएगी। धोवन में ढाल कर भैंसों को खिलाना पड़ेगा..."।

"मज़दूर क्या तुम्हारे बाप के सम्बन्धी हैं... बस यूँ ही पुन्न कमाने के लिए आ जाएँगे...? हर एक के लिए पाँच सौ तो देना होगा। या चुनी हुई आधी मूँग उनको देनी पड़ेगी। एक दिन चुनने पर आधी फ़सल मज़दूरों को दे देंगे तो...ज़मीन जोत कर, बीज बोकर, फ़सल उगाने पर हमें क्या बचेगा...? एक-दो दिन देर से ही सही, हम ही चुन लेंगे।"

दूसरी क्यारी से मूँग की फलियों को समेटते हुए आराम से कह रहा था नागय्या।

"इन पर विश्वास करना मेरी कमअक़्ली है।" सोचने लगी पूलम्मा। शादी के सात सालों से यह रोज़ की बात हो गई है। रोज़ का झगड़ा है।

"वैसे तुम क्यों इतना परेशान हो रही हो। वैसे भी तुम्हारे दिन पूरे हो गए हैं, डॉक्टर ने पहले ही कह दिया है कि दस दिन में बच्चा हो सकता है। आराम से घर पर रहो, कहने पर मेरी बात मानती ही नहीं। बारिश होगी तो क्या होगा, मरेंगे तो नहीं न। जो होना है, सो होकर रहेगा। तुम परेशान मत होना...सीधे घर जाओ।"... कहते हुए नागय्या जल्दी-जल्दी मूँग की फलियों को बटोरने लगा।

उसके दिन पूरे हो चुके हैं, आजकल में बच्चा हो सकता है, इस बात से कहीं ज़्यादा मूँग की फ़सल बारिश के पानी से भीग कर बर्बाद हो जाएगी, यह डर था पूलम्मा को। कुछ भी कर के फ़सल घर पहुँचाना है और बादल हैं कि घिर आ रहे हैं। मज़दूरों के मिलने की कोई सम्भावना नज़र नहीं आ रही है। हे भगवान, क्या किया जाए, सोच-सोचकर तड़प जा रही है। "माता एल्लम्मा...तुम ही बचा लो। फ़सल हाथ आ गई है। एक-दो दिन के लिए बारिश रोक लो। मुर्ग़ा काटूँगी तुम्हारे नाम।..." कहते हुए खेत में लगे नीम के पेड़ की ओर मुड़कर मनौती माँगने लगी। उस नीम के पेड़ के नीचे हल्दी-कुमकुम लगा हुआ एक बड़ा-सा पत्थर था। उस पत्थर को एल्लम्मा माता के रूप में पूजा जाता है।

पश्चिम में दिन के उजाले को निगलता हुआ अँधेरा धीरे-धीरे बढ़ रहा था... और पूलम्मा का डर भी।

"अँधेरा घिर रहा है, घर चलते हैं, चलो..."।

"कितनी मुश्किलों से यह फ़सल हाथ आई है। हमारी हाड़तोड़ मेहनत बारिश के हवाले कर दें क्या...गिरवी रखकर लाया हुआ क़र्ज़...? इतनी फ़सल आँखों के सामने पानी में बह जाए तो मन शान्त रहेगा क्या..." पूलम्मा की आँखों में पानी भर आया।

पत्नी का दुःख बर्दाश्त नहीं कर पाया नागय्या।

"ए देखो... मुझे क्या तकलीफ़ नहीं होगी...? लेकिन रोने से बारिश रुकेगी क्या। वैसे ये बारिशें हमारे लिए नई थोड़ी हैं। एक फ़सल गई तो दूसरी फ़सल... कल किसी भी हाल में चार मज़दूरों से बात

सम्पर्क : *ई-मेल :* चन्दु तुलसी : *chandhuthulasi9@gmail.com*

ई-मेल : एस. के. साबिरा : *sabirahcu@gmail.com*

करूँगा। कल सुबह होने तक मूँग साफ़ करा दूँगा...तुम परेशान मत होना।" भरोसा दिलाया उसके पति ने।

पूलम्मा जल्दी-जल्दी मूँग चुनती जा रही थी। उस वक़्त तक तोड़ी हुई मूँग को जूट की बोरियों में भर सूवे में सुतली पिरोकर मज़बूती से बोरी को बाँधने लगा नागय्या। सुबह से पति-पत्नी ने मुश्किलें झेलते हुए दो बोरी मूँग चुने थे। मूँग की फलियों का इतना वज़न नहीं होता है। एक झटके में साँस लेकर दो बोरी अपने सिर पर रख लिया नागय्या ने। "अँधेरा है, धीरे-धीरे चलना।" पत्नी को ध्यान से आने के लिए कहते हुए जल्दी-जल्दी चलने लगा नागय्या।

दिनभर खड़े रहने से पूलम्मा के पैर दर्द करने लगे थे। ऐसा लग रहा था, किसी भी क्षण गिर सकती है। पेट में धीरे से दर्द शुरू हो रहा था। आराम से क़दम उठाते हुए घर के रास्ते चल पड़ी पूलम्मा।

पता नहीं बचपन में सुख पाया था कि नहीं लेकिन जबसे शादी हुई है, पलभर की फुरसत नहीं मिली थी। वह अकेली नहीं है, खेती करने वाली हर औरत की यही स्थिति है, आख़िरी साँस तक एक दिन का भी सुख नसीब नहीं होता उन्हें... गर्भवती हो या कुछ भी हो जाए काम करना नहीं चुकता। जब तक साँसें हैं, तब तक चाकरी.... दिन पूरे होने के बावजूद काम से फ़ुरसत नहीं मिलती थी।... दो जून रोटी के अलावा कुछ बचता भी नहीं था। कभी अच्छा कपड़ा तक शरीर पर नहीं डाला... चाकरी...चाकरी...बस।

पूलम्मा के घर आने तक चूल्हे के पास उसकी माँ सौदम्मा खाना बना रही थी... वह बड़ी उम्र की है। चार क़दम तेज़ नहीं चल सकती। घर पर रहकर बेटी की देखरेख करती रहती है...।

अँधेरे में घर पहुँची बेटी को देखा... "एक तो तुम पेट से हो...ऊपर से तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं...घर रहने के लिए कहो तो रहोगी नहीं... ऊँच-नीच कुछ हो जाए तो कैसे बिटिया... मूँग की खेती दामादजी देख लेंगे न...?" परेशान हो गई सौदम्मा।

"मेरे पति के बारे में तुम जानती नहीं हो क्या, माँ... उनका विश्वास किया कि समझो दो कौर रोटी पेट में गई...कुछ भी हो जाए औरत की बात मर्द में आएगी क्या...? हम पीछे नहीं पड़ेंगे तो... एक दिन का काम हफ़्तों धकेल देंगे।"

"ठीक है, बेटा... आलू डाल कर झोल बनाया है...दामादजी को देना और तुम भी खा लेना...तुम्हारे लिए लहसुन की चटनी बनाई है। वही खाना... मैं घर जाकर भैंस का दूध दूह कर ले आऊँगी..." कहते हुए अपने घर चली गई सौदम्मा।

जल्दी-जल्दी हाथ-पैर धोकर आई और पलंग पर पसर गई पूलम्मा। खाना-खाने के लिए पति के आने का इंतज़ार करने लगी। पैर दर्द कर रहे थे... कमर भी दर्द कर रही थी। फिर भी इससे ज़्यादा उसको बारिश से मूँग की फ़सल का क्या होगा, यही चिन्ता खाए जा रही थी।

एक दिन बारिश रुक जाए तो काफ़ी है... मुसीबतें टल जाएँगी... लगता है, बारिश रुकेगी नहीं।

जाने दो मज़दूरों को लगाकर मूँग की फ़सल की कटवाई करा देंगे। सोचा तो वह भी नहीं हो पा रहा था।

इतने में...

जज्जनक जज्जनम...जज्जनक जज्जनम....

धीरे से डप्पु की आवाज़ आने लगी। अब कौन डप्पु बजा रहा है, सोचते हुए वह दरवाज़े पर आकर देखने लगी। जज्जनक जज्जनम..... डप्पु की आवाज़ पूलम्मा के घर से होते हुए बाज़ार के चौराहे के पास जाकर रुक गई–"सब को सूचित किया जाता है कि परसों से पेतरमास बतुकम्मा त्योहार शुरू होगा...सबको न्योता दिया जाता है..."

बतुकम्मा का त्योहार पास आने के साथ ही सारे गाँव के लोगों को त्योहार की तैयारी करने के लिए कहा जाता है। दो-तीन दिन पहले डुगडुगी बजाकर इस बात का ऐलान किया जाता है। लड़कियों को मायके बुलाना... नए कपड़े-लत्तों की ख़रीद व फ़रोख़्त... हर कोई अपनी-अपनी तैयारियों में लग जाते हैं। पूलम्मा मूँग की फ़सल के पीछे पड़कर बतुकम्मा त्योहार के बारे में ही भूल गई थी।

पूलम्मा को बतुकम्मा का त्योहार जान से प्यारा था। हर लड़की का यही हाल है। सालभर घड़ी के काँटे की तरह पलभर की फ़ुरसत लिए बिना काम करने वाली लड़कियों को... यह नौ दिन का त्योहार सारी मुसीबतें भुलवा देता है। ये नौ दिन मासूम बच्ची-सी हो जाती हैं सारी लड़कियाँ। सब मिलकर बतुकम्मा खेलते हैं।

अचानक आकाश में बिजलियाँ चमकने लगीं... धीरे-से बारिश की बौछार शुरू होने लगी।

"सत्यानाश हो इस बारिश का... एक दिन भी रुकेगी नहीं। यह बौछार बढ़ जाएगी तब क्या होगा...मूँग की फ़सल का सत्यानाश समझो।" पूलम्मा दुःख को रोक नहीं पा रही थी। बारिश में भीगते हुए जल्दी-जल्दी घर के अंदर जाकर दरवाज़ा बन्द कर लिया नागय्या ने।

"मज़दूरों का कुछ हुआ...कल कोई आने के लिए तैयार हुआ...?"

"सब जगह घूमकर पूछ लिया। जिससे पूछा उसी को काम है। कोई नहीं मिला..." पूलम्मा की उम्मीदों पर पानी फेर दिया नागय्या ने।

"पट पट पट पट पट"... घर की टिन वाली छत पर पानी की बौछार की आवाज़ बढ़ने लगी। छत की टिन पर ही नहीं, पूलम्मा की आँखों से पानी की धार कम नहीं हो रही थी। पानी से भीगकर झड़ते हुए मूँग के दाने... पानी में डूबे हुए आँखों के सामने दिखाई देने लगे। खाने का भी मन नहीं किया। पति के लिए थाली में इतना-सा खाना निकाला। बिना बात किए ख़ामोश बैठ गई। पाँच मिनट बरसकर पानी रुक गया। 'हम्मय्या (ओफ़्फ़ो)....पानी फिर न बरसे तो अच्छा है, वह सोचने लगी।'

नागय्या घर के बाहर झोपड़ी के नीचे खाट बिछाकर सो गया। पूलम्मा को है कि नींद ही नहीं आ रही थी। पेट में धीरे-से दर्द उठने लगा। सारी फ़सल पानी में बह जाने के दुःख के आगे पेट का दर्द ज़्यादा नहीं लग रहा था। माता एल्लम्मा, माता कट्टा मैसम्मा...तुम्हारे आगे हाथ जोड़ती हूँ... तुम ही बचा लो, कहते हुए जितने भगवान याद आ रहे थे, उन सबसे मिन्नतें करते हुए पता नहीं, आधी रात कब उसकी आँख लग गई।

बिटिया...माँ की आवाज़ से आँख खुली पूलम्मा की। सफ़ेद-सफ़ेद सुबह हो रही थी। खाट पर से उठना चाह रही थी लेकिन वह उठ नहीं पा रही थी। बदन दर्द से टूट रहा था। धीरे-से कोशिश कर नीचे उतरी और बाहर आकर बादलों की ओर देखने लगी। बादल कहीं नहीं थे। ऐसा लग रहा था मानो किसी ने आसमान को सूखे कपड़े से पोछकर साफ़ कर दिया हो। ज़मीन हल्की भीगी हुई थी। इसका मतलब रात में बारिश कुछ देर ही बरसी होगी। पूलम्मा को बहुत ख़ुशी हुई। आज तोड़ेंगे तो मूँग की फ़सल ख़त्म हो जाएगी। जल्दी-जल्दी मुँह धोकर दो कौर मुँह में डाला भी नहीं कि बाहर निकल गई।

"फिर कहाँ जा रही हो, बिटिया। दिन पूरे हो गए हैं, आजकल में बच्चा हो सकता है। डॉक्टर ने कहा न कि घर पर ही रहो। मूँग की फ़सल कहीं नहीं जाएगी। दामादजी साफ़ कर लेंगे न। घर पर ही रहो, बेटा।" माँ के बुलाने पर भी बिना सुने क़दम-क़दम आगे बढ़ते हुए धीरे-से खेत

पहुँच गई पूलम्मा। पता नहीं नागय्या कब वहाँ पहुँच गया था। नागय्या मूँग की फ़सल चुनने लगा था।

"तुम्हें घर पर बैठने के लिए कहा था न, खेत पर क्यों आई हो तुम। मैं फ़सल काट रहा हूँ न। डॉक्टर की बात भी नहीं मानोगी क्या! सीधे घर जाओ।" खेत के पास आई पूलम्मा को डराते हुए कहा नागय्या ने। नागय्या की बात को अनसुना कर एक बोरी लेकर जल्दी-जल्दी उसमें मूँग की फलियाँ भरने लगी वह। पूलम्मा जब कोई काम करने की ठान लेती है तो... कोई कितना भी कह ले, किसी की नहीं सुनती है, यह बात जानता है नागय्या।

सूरज से मुक़ाबला करते हुए दोनों जल्दी-जल्दी मूँग तोड़ने लगे। भरी-पूरी होने पर भी नागय्या से कहीं ज़्यादा तेज़ी से तोड़ी हुई मूँग की फलियों को बोरी में भरती जा रही थी पूलम्मा। दिन चढ़ने के बाद जल्दी-जल्दी दो कौर खाए नहीं खाए खेतों के बीच पहुँच गए दोनों। रह-रहकर पूलम्मा के पेट में दर्द और बढ़ रहा था। दर्द सहते हुए, मूँग की फलियाँ तोड़े चले जा रही थी। शाम होने तक फ़सल काटने और चुनने का काम लगभग ख़त्म था। पूलम्मा की जान में जान आई 'तीन महीनों की मेहनत हाथ आई,' सोचकर खुश होने लगी।

धीरे-से घर का रास्ता चलने लगी। सुबह इसी रास्ते से आई थी... वही रास्ता पता नहीं क्यों अब नया लग रहा था। कल तक, बारिश के डर के कारण ध्यान नहीं दे पाई थी। सड़क के बग़ल में ही अमलतास के फूल चमक रहे थे। रात में हुई बारिश से धुले हुए चकचक-चकचक चमक रहे थे। उस पर यहाँ एक, वहाँ एक, रुकी हुई बारिश की बूँदें मोती की तरह चमक रही थीं। 'कितने सुन्दर हैं ये अमलतास के फूल...' सोचते हुए पूलम्मा ने तोड़कर जूड़े में खोंप लिया।

ओक्कोक्क पूवेसी सन्दामामा... ओक्क जामो आए सन्दामामा...

(एक-एक फूल जोड़ के चन्दा मामा, एक-एक पहर बीते चन्दा मामा)

अपने-आप गाते हुए चल रही थी। आधा रास्ता जाने के बाद पेट में दर्द बढ़ने लगा। अचानक पेट में कुदाली से कोई भोंक रहा हो, ऐसा महसूस होने लगा। साँस रोके हुए किसी तरह घर पहुँची। घर पहुँची नहीं कि खाट पर पसर गई, पेट पकड़कर ज़ोर से चिल्लाने लगी, माँ... माँ... पूलम्मा की माँ जो चूल्हे के पास खाना बना रही थी, "क्या हुआ बिटिया", कहते हुए अंदर आई। पेट पकड़कर तड़प रही थी बिटिया। जल्दी-जल्दी बाहर निकलकर पड़ोसी वरम्मा पर चिल्लाई।

"दीदी...थोड़ा आना...मेरी बिटिया को दर्द शुरू हो गया है। महीने पूरे हो गए हैं। जच्चगी के दिन पास हैं... कितनी बार कहा, फिर भी नहीं मानी। मना करने के बावजूद खेत पर गई थी। दर्द बढ़ गया है।" सौदम्मा की आवाज़ सुनकर आस-पास के लोग दौड़कर आए।

"शहर के बड़े अस्पताल ले जाना ठीक रहेगा। कोई एम्बुलेंस को कॉल करो।"

"अरे दीदी, जच्चगी के लिए अस्पताल क्यों। तुमने जना नहीं... मैंने जना नहीं क्या बच्चा। बच्चा भी ठीक-ठाक है, गर्भ में बच्चा उलटा तो नहीं हुआ है न। जाओ...जाकर मंत्रासानी मारेम्मा को बुलाकर ले आओ। मैं पूलम्मा को सम्भालती हूँ, उसके पैर पकड़ कर रखूँगी।"

बड़ी-बूढ़ी औरतें इधर-उधर जल्दी-जल्दी घूमते हुए, पूलम्मा की जच्चगी की तैयारी करने लगीं। मूँग के फलियों की बोरी उठाकर लाते हुए नागय्या को घर के आगे इतनी सारी औरतों को इधर-उधर टहलते हुए देखकर कुछ समझ नहीं आया। बोरी को एक कोने में फेंककर घर के अंदर जाने लगा।

दरवाज़ा अंदर से बन्द था। माँ... पूलम्मा के चीख़ने की आवाज़ आ रही थी। वह दर्द बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी।

अब तक उसके साथ मिलकर कमरतोड़ मेहनत की थी उसकी पत्नी ने। भरी-पूरी फ़सल को बचाने के चक्कर में जान पर ले आई। पूलम्मा की हालत देखकर गमछा मुँह में दबाकर दीवार के सहारे गिर कर छोटे बच्चे-सा रोने लगा।

"अरे...क्यों...क्यों रो रहे हो, नागय्या। औरत के जन्म में पैदा होने वाली हर एक लड़की को सहने पड़ते हैं यह दिन...चुप हो जाओ...मत रोओ...।" पुराने कपड़े लिए घर से बाहर आते हुए वरम्मा समझाने लगी नागय्या को।

"अरे...दामादजी...नागा...कुछ नहीं होगा। सब ठीक-ठाक हो जाएगा। चुप हो जाओ..." कहते हुए आँख पोंछने लगा वरम्मा का पति ईरासामी मामा।

"सत्यानाश हो इस किसानी का... एक दिन का सुख भी नहीं था जाना...इससे तो चाकरी करने वाले बैल बेहतर हैं। कुछ देर सो लेते हैं। खेती करने वाले घरों में पैदा होना मतलब जीवनभर...मरते दम तक तकलीफ़ें चुकी नहीं हैं।" ...बूढ़ी सौदम्मा का दुःख दूर करना किसी के बस की बात नहीं थी।

पूलम्मा का दर्द बढ़ गया था... बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी वह और माँ....माँ कहकर चिल्ला रही थी। वरम्मा से रहा नहीं गया और बाहर आकर–"नागा...जाकर डॉक्टर को ले आना जाओ..." कहकर चिल्लाई। गाँव के आरएमपी डॉक्टर के पास दौड़ा नागय्या।

जज्जनक जज्जनम.... जज्जनक जज्जनम....

बतुकम्मा के डप्पु की आवाज़ शुरू हुई।

डप्पु की आवाज़ खाट पर सोई हुई पूलम्मा को सुनाई दे रही थी।

"भगवान की कृपा से जच्चगी ठीक-ठाक हो गई बेटा।... दिन पूरे होने पर भी बिना हमारी बात माने खेतों पर गई। अगर कुछ हो जाता तो...?" सौदम्मा कहने लगी।

"खेतों की फ़सल भी पेट की औलाद की तरह ही है न, माँ। चाहे कुछ भी हो जाए... हाड़-तोड़ मेहनत कर उगाई गई फ़सल को ऐसे ही छोड़ दें क्या। जान देकर भी फ़सल को बचा लेंगे ना...?"

"तुम्हारी हिम्मत की दाद देनी होगी, बिटिया। उधर खेतों की फ़सल बचा ली। हर रोज़ हाड़-तोड़ मेहनत करने की वजह से जच्चगी भी आसानी से हो गई। चाँद-सी बिटिया ने जन्म लिया है।"

बतुकम्मा त्योहार के डप्पु की आवाज़ बढ़ने लगी। पूलम्मा के घर के सामने से सुनहरे बतुकम्मा चमकते हुए चले जा रहे थे।

"वह सब ठीक है, बिटिया...यह बताओ, अपनी बिटिया का नाम क्या रखोगी।" पूछने लगी पड़ोसी वराक्का।

"और क्या रखूँगी मासी, मेरी प्यारी बिटिया को 'बतुकम्मा' कहकर बुलाऊँगी।" बिटिया को गोदी में लेकर पुचकारने लगी पूलम्मा। हर साल अमलतास बतुकम्मा को उठाने वाली पूलम्मा ने इस साल बिटिया बतुकम्मा को उठा लिया है। माँ का गरम स्पर्श मिलने पर छुटकी बतुकम्मा खिलखिलाकर हँसने लगी। घर के सामने सुखाई गई मूँग धूप की गरमाहट से चम चम चमक रही थी। ❑

(बतुकम्मा : दशहरे के समय तेलंगाना में की जाने वाली गौरी पूजा का एक रूप व त्यौहार। विभिन्न प्रकार के फूलों से सजाया जाने वाला माता का एक रूप। सलम्मायो, पोचम्मा : तेलंगाना के ग्रामों में पूजे जाने वाले ग्राम देवता है। डप्पु : एक वाद्ययन्त्र जो डफ़ली की तरह होता है।)

● भाषांतर : दो उड़िया कविताएँ :ईप्सिता षडंगी

अनुवाद : **हरेकृष्ण दास**



कस्तूरबा

आँखों से छलकते प्रशान्ति
मन में ढेर सारा विद्रोह
पहाड़ से मज़बूत अपने व्यक्तित्व में
सिमट लिया कैसे अपने-आप को तुमने 'बा'

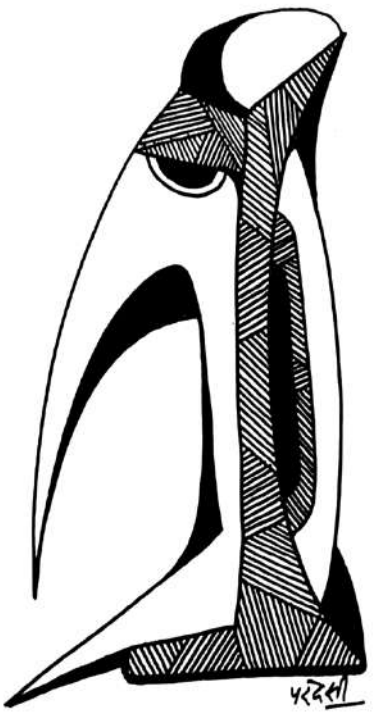
संसार जानो तो अपना यह देश,
अगर घर समझो तो यह सारा भारत,
बच्चे हैं तो यह सारे जग वाले,
शान्ति के शृंगार से झिलमिल
ओ! कस्तूरबा–
क्या महात्मा ने अपनाया था तुमसे
अहिंसा का मन्त्र?

तुम्हारा लिखा हुआ हर लफ़्ज़
लफ़्ज़ ही नहीं,
थे एक-एक अक्षर
खुद से ही अलग हुए

सीखा नहीं था तुमने पढ़ना-लिखना
मगर जीवन-नाटक में
तुम्हारे निभाए हुए तरह-तरह के किरदारों के
संलाप की भाँति
अनगिनत शून्य विराम चिन्हों से भरे हुए थे

क्या तुम्हें मालूम है 'बा'
संघ, आदर्श और आश्रम-
मिट जाते हैं
उनके प्रवर्तक की मौत से!

तुम्हें क्या दिखाई देता है
क़हर का वह भयानक रूप,
धोखेबाज़ी की वह तमाम नौटंकी?



अनगिनत बच्चों की 'बा' हो मगर
संतान-सुख से कोसों दूर हो तुम!
सूरज के तेज के नीचे
छोटा-सा दिया बनकर
बुझती चली दिन-ब-दिन तुम

अब जगह-जगह पर मूर्तियाँ तुम्हारी

जी करता है देखने को
झाँक कर तुम्हारी आँखें-
शायद मिल जाए वहीं
ओस में छुपे अफ़सोस के दो बूँद आँसू।

देश

निकल पड़ा था हर एक शख़्स
हर तरह का हथियार लिए
फहराने झंडा अपने अधिकारों का
देश के अंदर
देश को लेकर

जब वह मोड़ रहे थे
पानी की धार को अपनी ओर
किनारे पर सिमटती हुई बैठी फुल
मुस्कुराने लगी
शायद किसी ने कुछ भी समझा ना हो
लेकिन वह समझाना चाहती थी बहुत कुछ

पत्थर, खदान और जंगल
हड़पने को तैयार आदमी
हर तरह की कोशिश करके
कुरेद रहा था पहाड़ का सीना;
पैदा होते ही
बचपन से पहाड़ के सीने से लिपट कर
उसका खून जवान हुआ
शाल का पेड़
लहराया अपनी शाख को,
वह भी कहना चाहता था बहुत कुछ .....

देश-देश चिल्लाकर
कुदरत को बचाने के नाम पर
नियम बनाने वाले लोग
दुनिया के धनिकों में गिने जाने वाले व्यापारी
हर किसी ने पढ़ा था, सुना था और बोल रहे थे
देश पर
लेकिन कहीं किसी तरह भी
न था देश उनके दिमाग़ में
मन्त्रों में, लफ़्ज़ों में, आचरण में

देश लाल रंग-सा
धड़क रहा था शहीद जवान की
बेटी के लफ़्ज़ों में

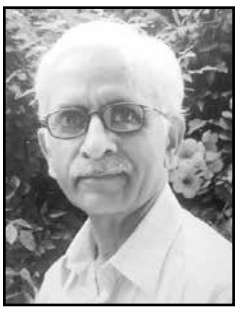
अनाज देते-देते अपने परिवार को
भूख से बचाने में नाकाम
लाचार किसान की ज़हर की बोतल में

निशब्द आह बनकर
अतीत से वाक़िफ़ स्वतन्त्रता सेनानी की
निस्तेज आँख में....

इसके अलावा
कहीं भी नज़र नहीं आता था मुझे
देश। ❑

सम्पर्क *: ई-मेल : ईप्सिता षडंगी : poetipsita@gmail.com*
ई-मेल : हरेकृष्ण दास : dasharekrushna97@gmail.com

● चार ग़ज़लें : **ज्ञानप्रकाश विवेक**





(एक)

इक बूढ़ा परिन्दा है चमन ढूँढ रहा है
लगता है कि वो अपना वतन ढूँढ रहा है

हर शख़्स यहाँ भटके सितारे की तरह है
हर शख़्स यहा अपना गगन ढूँढ रहा है

जलती हुई तीली जो लिए फिरता है यारों!
कम्बख़्त वो काग़ज़ का भवन ढूँढ रहा है

ता-हद्दे-नज़र रेत है और रेत के अन्दर
हसरत लिए, दरिया को हिरन ढूँढ रहा है

फिर आज वो चूल्हे को जलाएगा यक़ीनन!
फिर आज वो थोड़ी-सी अगन ढूँढ रहा है

दिन-रात भटकता है कोई शख़्स नगर में
जैसे कि वो खोया हुआ धन ढूँढ रहा है।

(दो)

बाहर तमाम आँधियाँ उठती हुई-सी हैं
लेकिन ये मोमबत्तियाँ जलती हुई-सी हैं

पेड़ों के चीरने पे जो हो जाती हैं उदास
कुछ दिन से मेरी आरियाँ बदती हुई-सी हैं

ये ज़िन्दगी भी कोई पुराना मकान है
और इसमें सब निशानियाँ रक्खी हुई-सी हैं

मैंने करज़ चुकाते हुए उम्र काट दी
फिर भी ये देनदारियाँ बढ़ी हुई-सी हैं

टूटा है गिर के फ़र्श पे इक महँगा फूलदान
घर में हैं जितनी बेटियाँ सहमी हुई-सी हैं

तुम यूँ समझ लो ये है मेरा रोज़नामचा
कमरे में ये जो चिंदियाँ बिखरी हुई-सी हैं

आओ, चलो चराग़ जलाएँ मुँडेर पर
ऐसे तिमिर में बच्चियाँ डरती हुई-सी हैं

तक़सीम घर की हो गई, भाई झगड़ पड़े
वालिद की नेकनामियाँ मिटती हुई-सी हैं।

(तीन)

नींद में लगता है जैसे भागता रहता हूँ मैं
और ख़्वाबों में किसी को ढूँढता रहता हूँ मैं

टूटता है जब कोई तारा अचानक रात को
लोग सो जाते हैं लेकिन जागता रहता हूँ मैं

इस क़दर मैं सरफिरा हूँ क्या बताऊँ दोस्तो!
दूसरों की शादियों में नाचता रहता हूँ मैं

कौन जाने मेरा अपना भी उतर आए कभी
आती-जाती गाड़ियों को देखता रहता हूँ मैं

देखती रहती हैं दीवारें मुझे होकर चकित
बन्द कमरे में अकेला बोलता रहता हूँ मैं

मेट्रो में बैठकर तुम तो चले जाते हो पर
बेंच पर बैठा हुआ कुछ सोचता रहता हूँ मैं

है कोई शैतान बच्चा मेरे अंदर दोस्तो
डाँटता रहता हूँ मैं दिन में सौ-सौ बार उसको।

(चार)

अगर तुम आओ तो खुद को सँवार कर आना
बस एक शर्त है जूते उतार कर आना

पता मकान का इतना सरल है मत पूछो
सड़क को छोड़ना गलियों को पार कर आना

पिता की आदतों में ये भी एक आदत थी
कि तख़्तपोश पे अचकन उतार कर आना

यही तो दुख वो इसे वीरता समझता है
किसी गुलेल से पक्षी को मार कर आना

कि हो गया है यही रोज़नामचा मेरा
जुआरियों की तरह रोज़ हार कर आना

गुज़िश्ता वक़्त मुझे अब भी याद आता है
कि डाकघर में कभी जाके तार कर आना। ❑

सम्पर्क : *ई-मेल : gyanpvivek@gmail.com*

● दो कविताएँ : **अरुण शीतांश**



पत्ते

जब फुलवारी में पेड़ से पत्ते गिरते हैं
थोड़ा-सा गिर जाता हूँ

पत्ते टूटते हैं
टूट जाता हूँ

पत्ते जलते हैं
अंदर कुछ जल जाता हूँ

पेड़ों के छाल उतारे जाते हैं
जैसे मेरे शरीर से कोई त्वचा उतार रहा होता है

कोई पेड़ पर वार करता है
माथा फटने की आवाज़ सुनाई देती है

कोई प्रहार बार-बार करता है
(पेड़ की शाखाओं पर)
धड़ाधड़ गिरता है अंग-अंग

चुपके से कोई बालक एक पौधा रोपता है
हरा-भरा हो जाता हूँ
इस नई दुनिया में

कोई पेड़ उखड़कर धड़ाम से ज़मीं पर
आ जाता है
अमर शहीद होता हूँ

पेड़ों को रहने दो
मरी हुई मछली नहीं हूँ
पेड़ों को बसने दो
जैसे मैं बसा हूँ
प्रदूषण जैसी जगह में



आओ नन्हें हाथों से हज़ारों पेड़ लगा दें

जहाँ अमृत फल की तरह
सबकी दुनिया हो जाए

पेड़ की कविता कहने के लिए जीने दो
मरने दो
छोटे बच्चों के आगमन के लिए
इनकी दुनिया है
उनका ही यह संसार है

पेड़ों फलो-फूलो।

आरा

कितने युगों में
कितनी माएँ रोई होंगी
तब आरा बना होगा

आरा की इज़्ज़त-आबरू की दवा बोली है
हर बार पैर फिसलते हुए
सदल मिश्र की आह निकलती है

हँसती हुई लड़कियों को अब कोई नहीं
रोकता-टोकता
भक से बाहर आ जाती हैं नाक पर चश्मा
लटकाए

इस शहर की हर सड़क प्रेम के अक्षरों से
बनी है
जिसकी भाषा का रंग कोलतार की तरह है

मेरे पाँव रोज़ गुज़रते हैं
नागरी प्रचारिणी से
पुरातत्त्व-सी कचहरी से

हवाई अड्डा रो रहा है
जहाँ काट दिए गए मेरे सपनों के पंख

और किसी कोने में कोई वृद्ध कवि
खैनी मल रहा होता है

चाय पीने
घर से दुकान की ओर जाते हैं
और उस दुकान का पानी छोड़
चायपत्ती घर लाते हैं
साहब के लिए चपरासी लाता है

समय आरा में बसता है
और आरा समय को छोड़ देता है
अस्सी साल तक

सफ़ेद कपड़े पर नज़र पड़ सकती है
कीचड़ से
हुसैन की चित्रकारी की तरह
रोज़ रोते हुए हँस सकते हैं
इस दृश्य को देखकर
थोड़ी गाली भी पड़ सकती है सरकार को

घोड़ों की टाप सुनकर उठता है
शहर
और साइकिल की घण्टी की आवाज़ से

हम शहर के नागरिक ज़रूर हैं
शायद साहित्य के नागरिक नहीं हैं

रक्ताभ धरती
अपनी ताक़त में है ..। ❑

सम्पर्क : *ई-मेल : arunsheetansh@gmail.com*

● तीन कविताएँ : **शिवकुमार निखिलेश**



नींद को बचाना

हम नींद को बचाएँ
जैसे बचाती है सीपी
मोती को
जल के थपेड़ों को सहकर
सागर की गहराई में

जैसे बचाता है कठफोड़वा
काठ के प्रतिघाती प्रहार को सहकर
अपनी चोंच को

जैसे बचाता है घोंसला
पंछी को
आँधी-बरसात सहकर

जैसे श्रमिक
बूँद-बूँद पसीना बहाकर
हममें अपने विश्वास को बचाता है

जैसे एक गर्भवती औरत
अपना रक्त देकर
गर्भ में अपने बच्चे को बचाती है
और
गर्भस्थ शिशु भी
गर्भ के अँधेरे में सिकुड़कर
औरत में माँ को बचाता है

जैसे जल
अपने में–
अपने लिए, सबों के लिए-
अपनी तरलता को बचाता है
निदाघ और ठण्ड सहकर।



रेखा

एक रेखा मिलती है दूसरी से
और मिलकर उसके साथ चलती है

पर साथ चलती
दूसरी रेखा
पहली से अलग होकर
यदि दिखाती है कि
वह भी है
उसकी भी गति है
दिशा है
उसकी भी रेखाएँ हैं
तो यह वाजिब है कि
वह अलग अपने अस्तित्व को दिखाती है

पर वह जब
फिर पहली से मिलकर
उसके साथ चलने लगती है
तो दोनों
रेखाओं का एक बृहत्तर संसार रचती है।

प्याज़

(एक)

प्याज़
मिट्टी में पलने-बढ़ने
तथा अपना आकार ग्रहण कर लेने की
उसकी ही कथा है
जो इसे उपजाता है

यह
हर परत
पहली परत है
पहला रंग
पहला रूप

यह
हमारे एकरंगी
एकधर्मी होकर
आपस में जुड़ जाने
(पर एक-दूसरे से स्वतन्त्र होने)
का एक समष्टिवादी आदर्श है
आदर्शों के संग्रहालय में सँजोया
आलमी तौर पर
अपने प्रयोग का इंतज़ार करता।

(दो)

हर फ़सल की तरह
प्याज़ का
अपना वज़न होता है
उपज कर कभी-कभी
बहुत ही हल्का हो जाता
जैसे एक गेंद
जिसे बच्चा
एक हाथ से ही उठा लेता है

पर जब अचानक
यह हमारी आँखों से ओझल होकर
एक अंतराल के बाद
किसी एन.आर.आई. की तरह
हमारे बीच लौट आता है
तो इतना वज़नी हो जाता है
कि इसे उठा पाना
आम लोगों के बूते की बात नहीं होती

रोटी की तरह
प्याज़ भी
समय-समय पर
एक जुलूस की अगुआई करता है
हाथ में मशाल लिए। ❑

सम्पर्क *: ई-मेल : shivakumarjha1950@gmail.com*

● तीन कविताएँ : **गोलेन्द्र पटेल**



लुत्ती की लय

मैं चाहता हूँ
कि मेरी कच्ची कविता किसी पक्की पत्रिका में न छपे
जो कि चाटुकारिता के चूल्हे पर
इतनी पक गई है
कि स्वयं का स्वाद भी खो चुकी है
किन्तु कड़ाही की चाहत है
कि चेतना चुरे
बिलकुल संवेदना की सब्ज़ी की तरह
और आग बनी रहे तब तक
जब तक कि बात बादाम की तरह
पक न जाए

परम्परा की पोटली में चैत का चना अंकुरित हो गया है
और मत का मटर आलोचना की अवनि में
मगर हरे शब्द सूख रहे हैं
जैसे हों वे सरकंडे के पेड़

जिसके तने से कभी लिखी गई महान कविता
जो कभी क़लम की भूमिका में रही
ख़ैर, खेद है कि तर्क के तवे पर प्रश्न प्रसन्न है
उत्तर उचक-उचककर देख रहा है
कि कोई ठोस लकड़ी नहीं
न ही सरसौंटी
बल्कि पुआल जला रहा हूँ चूल्हे में

अक़्ल के अकबर बुद्धि के बीरबल से पूछ रहे हैं
कि चेतना कब चुरेगी

चुरने और पकने के बीच जब
चिन्तन की चिनगारी
अनुभूति की आँच में
रूपान्तरित होती है
तब लुत्ती की लय सुनाई देती है
रचना की रसोई में!

झाँवाँ

शैली! संवेदना सुलग रही है
चूँकि चेतना का चूल्हा आँवाँ हो गया

भाव के भट्ठे में शब्द ईंट की भाँति
इतना पका-इतना पका
कि झाँवाँ हो गया

भामह की दृष्टि में शब्द का झाँवाँ होना
असल में काव्य का कड़ा होना है

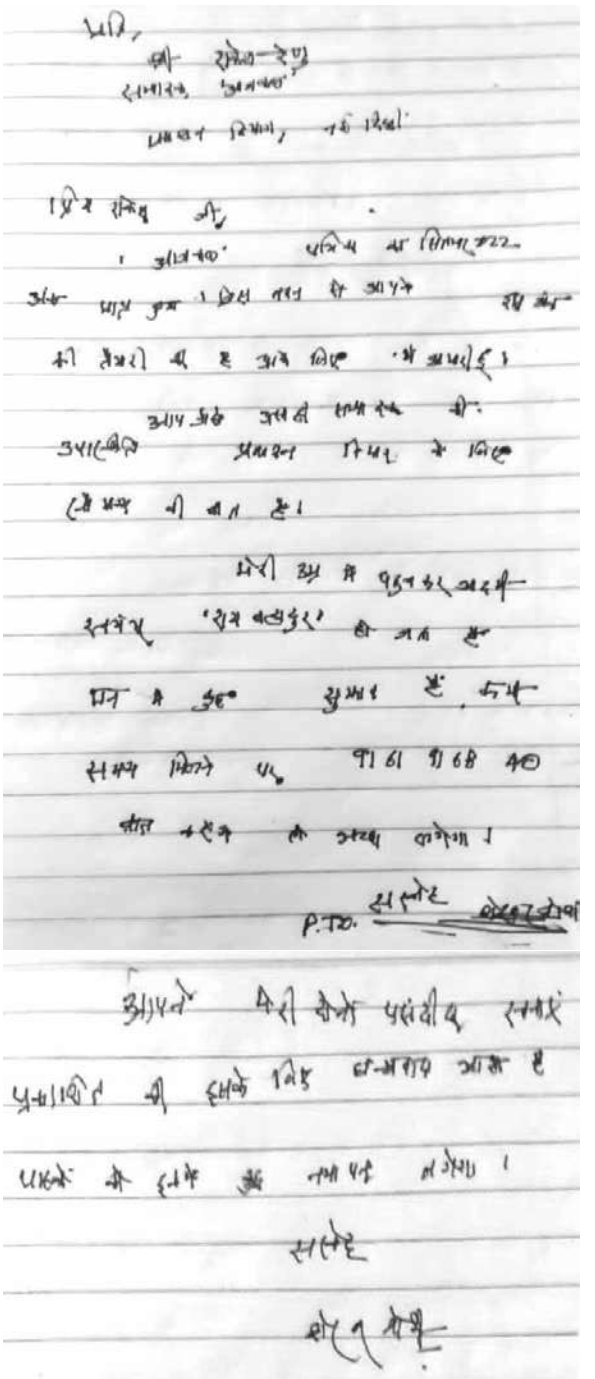
अर्थात् भाषा में बड़ा होना है!

लिखना-पढ़ना

मैं चाहता हूँ लिखना लोक की लय
जैसे कि जय
लिखती है पराजय का गीत

मैं चाहता हूँ पढ़ना पीड़ा की पंक्ति
जैसे कि भय
पढ़ता है भीतर का शीत। ❑

सितम्बर, 2022 अंक पर
शेखर जोशी की हस्तलिखित प्रतिक्रिया



सम्पर्क : *ई-मेल : corojivi@gmail.com*

● श्रद्धांजलि



आलोचना में सच कहने का साहस

ओम निश्चल

हिन्दी के जाने-माने आलोचक मैनेजर पाण्डेय हमारे बीच नहीं रहे। वे कुछ समय से बीमार चल रहे थे। गोपालगंज, बिहार में जन्मे मैनेजर पाण्डेय हिन्दी में अपनी तरह के वामपन्थी आलोचक थे जिन्होंने साहित्य को समाजशास्त्र के आइने में जाँचा-परखा तथा अपने विचारों पर आजीवन दृढ़ रहे। उनके जाने से हिन्दी के बौद्धिक जगत का एक सितारा और चला गया है। वे मंचों पर दो टूक और सच बोलने वाले इने-गिने आलोचकों में से एक थे।

वर्तमान समीक्षा संस्कृति की चमक-दमक ने न केवल रचना का बल्कि आलोचना का भी बेहद नुक़सान किया है। आज की आलोचना का काम प्रायः इतना ही रह गया है कि वह पुस्तक के ब्राण्ड प्रचारक की भूमिका निभाए और ऐसा चौतरफ़ा हो भी रहा है। अख़बारों, पत्रिकाओं में छपने वाली समीक्षाओं में आलोचना का स्वर तो तिरोहित रहता ही है, समीक्षा में, सम्यक अवलोकन का निहित दायित्व भी लुप्तप्राय होता जा रहा है। ऐसे में यदि आज भी ऐसे कुछ आलोचक हैं, जिन पर भरोसे से उँगली रखी जा सकती है, तो यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। दुनियाभर के साहित्यिक विमर्शों पर उनकी निगाह रहती थी तथा सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर ही उन्होंने कवियों, लेखकों को कसकर देखा। आलोचना और सामाजिकता, शब्द और कर्म, साहित्य की समाजशास्त्रीय भूमिका, हिन्दी कविता के प्रगतिशील कवियों, प्रतिरोध की परम्परा और साहित्य की भूमिका को लेकर मैनेजर पाण्डेय की पुस्तकें और सैद्धान्तिकी हमें इस बात का भरोसा दिलाती हैं कि उन्होंने आलोचना के तयशुदा फ़ार्मेट और समीक्षा के चालू मानदण्डों का अनुसरण नहीं किया है बल्कि रचना और अपने समय के विमर्श की पड़ताल सामाजिक परिप्रेक्ष्य से गहरे जुड़ कर किया है।



मैनेजर पाण्डेय हिन्दी के उन इने-गिने समालोचकों में हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं किया। गोपालगंज, बिहार में 23 सितम्बर, 1941 में जन्मे पाण्डेयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पढ़ाई की तथा कुछ समय जोधपुर विश्वविद्यालय में पढ़ाने के बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आ गए जहाँ से सेवानिवृत्त होकर इन दिनों स्वतन्त्र-लेखन कर रहे थे। पाण्डेयजी ने अपनी आलोचना के केन्द्र में साहित्य की सामाजिक भूमिका की स्थापना को महत्व के साथ आँका है। श्यामाचरण दुबे, पी.सी. जोशी तथा डी.पी. मुखर्जी एवं ए.आर. देसाई जैसे समाजविज्ञानियों की प्रेरणा से मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के समाजशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन-अनुशीलन किया तथा उनकी पहली ही किताब 'साहित्य के समाजशास्त्र' की भूमिका का हिन्दी आलोचना में एक नवाचार की तरह स्वागत हुआ। तब से 'शब्द और कर्म', 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', 'हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान', 'आलोचना में सहमति-असहमति', 'भारतीय समाज में प्रतिरोध की भूमिका', 'अनभै साँचा, 'आलोचना की सामाजिकता', 'उपन्यास और लोकतन्त्र', 'साहित्य और दलित दृष्टि', 'शब्द और साधना', 'संगीत रागकल्पद्रुम', 'संकट के बावजूद' और 'साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि' सहित उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा हिन्दी अकादेमी के शलाका सम्मान, राष्ट्रीय दिनकर सम्मान, गोकुलचन्द्र शुक्ल पुरस्कार एवं सुब्रमण्यम भारती सम्मान सहित कई पुरस्कारों से वे सम्मानित हो चुके हैं।

कहा जाता है कि एक ख़राब रचना केवल कुछ पाठकों को पथभ्रष्ट करती है जबकि एक ख़राब आलोचना समूचे समाज को। इसलिए आलोचना का उत्तरदायित्व आज के समय में सर्वाधिक है जबकि बाज़ारवाद की अनुगामी संस्कृति का असर लेखन पर भी पड़ता है और ख़राब रचनाओं के पेशेवर प्रचारक समीक्षकों की तथाकथित सात्विक भंगिमाओं में इर्द-गिर्द फैले हुए हैं। अकारण नहीं है कि मैनेजर पाण्डेय आलोचना की सामाजिकता की भूमिका में इस बात को रेखांकित करते हैं कि इधर के दशकों में साहित्य की नई सामाजिकता सामने आई है। उनका कहना है कि साहित्य विनोद का साधन नहीं है, वह स्वतन्त्रता के लिए बेचैन आत्मा की पुकार है। इस साहित्य की व्याख्या में वही आलोचना सक्षम होगी जो स्त्रियों, दलितों और आदिवासियों की स्वतन्त्रता की आकांक्षा की पहचान करेगी और उनके रचने की सामाजिकता का मूल्यांकन करेगी। हिन्दी आलोचना को असामाजिक बनाने का उत्तरदायी

सम्पर्क : *ई-मेल : dromnishchal@gmail.com*

वे उन आलोचकों को मानते हैं जो अतिरंजना, सरलीकरण, धमकी, फ़तवा, आशीर्वाद और दुविधा की भाषा में आलोचना लिखते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में किसी एक विषय पर धैर्य और एकजुटता के साथ विचार करने की प्रवृत्ति रामविलास शर्मा के बाद उत्तरोत्तर विरल होती गई है। इस प्रवृत्ति की कुछ-कुछ झलक मैनेजर पाण्डेय में दीख पड़ती है। वे यहाँ आलोचना का समाज, संस्कृति की राजनीति, कविता का समय और उपन्यास का लोकतन्त्र जैसे बुनियादी विमर्शों को उठाते और कुछ नए विमर्शों को अपनी आलोचना में जगह देते हैं। सबसे बुनियादी थीसिस उनकी यही है कि आलोचना की अपनी सामाजिकता होनी चाहिए। उसका एक समाज होना चाहिए। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की ज़रूरत पर बल देते हुए उन्होंने साहित्यिक हल्के में विद्यमान आलोचना की राजनीति, भाषा की राजनीति, राजनीति की भाषा जैसे मुद्दों पर तो विचार किया ही है, उपन्यास और लोकतन्त्र, उपन्यास और यथार्थ चेतना, उपन्यासों की भारतीयता तथा प्रेमचन्द की प्रासंगिकता पर भी विचार किया है। जिन शख़्सियतों पर मैनेजर पाण्डेय ने अलग से विचार किया है, वे हैं रामचन्द्र शुक्ल, नामवर सिंह, नागार्जुन, नाथू राम शर्मा शंकर। वे आधुनिक आलोचना की रौ में बहते हुए रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-भाषा को लेकर अपने पूर्वग्रह का परिचय नहीं देते और न नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि की विवेचना करते हुए भवदीयता की मुद्रा अपनाते हैं। अपनी मुखरता में वे नामवर सिंह की ही तरह वाग्विदग्ध तथा आलोचना में भी स्पष्टता से वह सब कुछ कह देने के हिमायती हैं, जिसे लेकर अक्सर आलोचक भाषाई खेल में खो जाते हैं।

मैनेजर पाण्डेय दरअसल रचना की चरितार्थता समाज से जुड़ कर रचे जाने में ही महसूस करते हैं। इसके लिए वे नागार्जुन जैसे कवि को केन्द्र में रखते हैं। यहीं वे नागार्जुन जैसे जनचेता और अज्ञेय जैसे आत्मचेता कवि के बीच फ़र्क़ को रेखांकित करते हैं। अज्ञेय के आख़िरी संग्रह 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' पर लुब्ध-मुग्ध होने वालों की रुचियों पर आघात करते हुए कहते हैं कि उनके प्रतीक और बिम्ब अतीतवासी हैं और अभिव्यक्ति की भंगिमा कृत्रिम तथा भाषा समकालीन जीवन के यथार्थ और व्यवहार से कटी हुई है। यहीं वे नागार्जुन की कविता में जन-जीवन के संघर्षों के पर्याप्त साक्ष्य देते हैं। इस तरह इन दो कवियों की तुलनात्मक मुठभेड़ कराते हुए वे कविता के प्रति अपनी दो-टूक दृष्टि का परिचय भी देते हैं। वे अमूर्त कल्पनाशीलता में सुध-बुध खोने वाली तथा मनोरंजनवादी कविताओं को जीवन-वास्तविकताओं से दूर मानते हैं। नागार्जुन के हवाले से वे इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि कविता में ज्ञान की गठरी भले छोटी हो, किन्तु करुणा का सागर अथाह होना चाहिए। वह विचार से अधिक भावों को तरजीह दे। उनके लेखे कालजयी रचना के लिए कालजीवी होना लाज़िमी है। उनकी दृष्टि में केवल शाश्वत विषयों पर कविता लिखना शाश्वत कवि होने का प्रमाण नहीं है।

मैनेजर पाण्डेय देसी समझ के आलोचक हैं। अपने ज्ञानकोश का इस्तेमाल वे भारतीय परिस्थितियों और पारिस्थितिकी में उपजी रचनात्मकता को समझने में करते हैं। नागार्जुन में यदि उन्हें सरलता का सौन्दर्यशास्त्र खींचता है तो इसलिए कि उनकी कविता न केवल किसी तरह के सरलीकरण को प्रश्रय देती बल्कि उसे उन व्याधियों से भी बचाती है जो अमूर्तन और कलावादी लटके-झटकों से कविता को जटिल बनाती हैं। भक्त कवियों में सूरदास, कबीर जैसे बड़े कवियों के बाद नागार्जुन, त्रिलोचन के साथ नए कवियों में यदि उनकी पसन्द बद्री नारायण, निलय उपाध्याय, देवीप्रसाद मिश्र, कात्यायनी, सविता सिंह और अनामिका जैसे कवि हैं, तो यह निश्चय ही उनकी जीवन-गन्धी, लोक-गन्धी काव्यात्मकता के कारण ही। कविता में बहुत कला का निदर्शन करने वाले कवि उनकी आलोचना और अध्ययन-चिन्तन के केन्द्र में कभी नहीं रहे।

उपन्यास के लोकतन्त्र को लेकर भी मैनेजर पाण्डेय ने अपनी आलोचना पर गहराई से विचार किया है। यों तो कविता के लोकतन्त्र की बात तो अशोक वाजपेयी भी यदा-कदा करते रहे हैं किन्तु उनके यहाँ लोकतन्त्र का भूगोल उसकी सीमित स्वायत्ता में है जबकि उपन्यास के लोकतन्त्र की अवधारणा का अर्थ पाण्डेयजी के मत से समय, समाज और लोक के साथ उपन्यास का हमक़दम होना है। वे निराला के इस कथन को याद करते हैं कि गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है। वे इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि विभाजन की त्रासदी पर प्रगतिशील कवियों के यहाँ कोई महत्वपूर्ण कविता नहीं मिलती, जबकि अज्ञेय के यहाँ ऐसी बहुतेरी कविताएँ हैं। उनके यहाँ बन्दी जीवन की कविताएँ भी हैं। उपन्यासों में, ख़ासकर 'झूठा-सच', 'आधा गाँव' और 'तमस' के साथ-साथ अज्ञेय, मोहन राकेश, भीष्म साहनी तथा कृष्णा सोबती के यहाँ इस त्रासदी पर अनेक कहानियाँ हैं। वे प्रेमचन्द, नागार्जुन, रेणु, फ़कीर मोहन सेनापति, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, महाश्वेता देवी, पन्नालाल पटेल, शिवराम कारंत, यू. आर. अनन्तमूर्ति तथा तकषी शिवशंकर पिल्लै आदि के उपन्यासों में भारतीयता पर विचार करते हुए यह नहीं भूलते कि उड़िया के फ़कीर मोहन सेनापति ने अपने उपन्यास 'छमाड़ आठ गुँठ' से ही भारतीय उपन्यास को किसान जीवन की महागाथा बनाने की परम्परा की नींव डाली थी।

उपन्यास के लोकतन्त्र का भाष्य वे यथार्थ, यथार्थवाद, स्वराज्य, उपनिवेशवाद, जातीय व्यवस्था की जकड़न, धार्मिक संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, किसान और मज़दूर जीवन की विडम्बनाओं, पितृसत्ता से उपजी पराधीनताओं की ज़मीन पर खड़े होकर करते हैं किन्तु उपन्यास में आख्यान की सत्ता को जीवन्त बनाने वाली भाषा, संवेदना को भूल नहीं जाते, बल्कि 'मुझे चाँद चाहिए' के गद्य को आकांक्षा का गद्य और 'चाक' के गद्य को अनुभव की भाषा में सम्भावना का गद्य कहकर बोलचाल की भाषा व स्मृतिजीवी भाषा का फ़र्क़ समझाते हैं। हाँ, उपन्यासों में बार-बार अतीत की ओर लौटने की प्रवृत्ति के वे गहरे आलोचक हैं जिनमें उन्हें मौजूदा भारतीय समाज की समस्याओं और जनता की जागृत आकांक्षाओं की उपेक्षा नज़र आती है। कविता का लोकतन्त्र अगर उन्हें नागार्जुन में नज़र आता है तो उपन्यासों में निश्चित रूप से प्रेमचन्द, रेणु और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले लेखकों में, जिनके यहाँ ठेठ भाषा का पूरा ठाठ मिलता है तथा बोलियों की अनगिनत भंगिमाएँ और मुहावरे। अपने विमर्श में वे जिन उपन्यासों का ज़िक्र करते हैं, उनमें धर्म और राजनीति के गठजोड़ की क़लई खोलते उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' व 'आख़िरी कलाम' तथा समाज के परिवर्तनों के सूचकांक के रूप में 'अल्मा कबूतरी' व 'सूत्रधार प्रमुख' हैं।

मैनेजर पाण्डेय की बुनियादी चिन्ता का विषय आलोचना को उत्तरदायी और सामाजिक बनाना रहा है। वे इस बात पर चिन्तारत दिखाई देते हैं कि पूँजीवाद का मौजूदा दौर सामाजिकता की मृत्यु का दौर है। ऐसी स्थिति में सामाजिकता की चिन्ता आलोचना और आलोचकों के केन्द्र में होनी चाहिए। आज जबकि सामाजिकता, सामूहिकता तथा सांस्कृतिक और भाषायी विविधता पर बाज़ारवाद और पूँजीवादी शक्तियों

परम्परा से विद्रोह के लिए भी परम्परा-बोध ज़रूरी है

*(यह बातचीत जुलाई 2017 में हिन्दी अकादमी के शलाका सम्मान मिलने के अवसर पर स्व. मैनेजर पाण्डेय के घर पर की गई थी...**ओम निश्चल**)*

आज की आलोचना क्या अपना दायित्व निभा रही है या यह भी एक तरह के तुष्टीकरण और समायोजनवाद के वशीभूत है?

आलोचना में हमेशा कई तरह की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील होती हैं जो सच्चे और ईमानदार आलोचक हैं वे साहित्य और समाज के हित को ध्यान में रखकर ऐसी रचनाओं व रचनाकारों की सम्यक आलोचना करते हैं जिनको पढ़कर सामान्य पाठकों को जीवन जगत का बेहतर ज्ञान और अनुभव मिल सके लेकिन हर समय कुछ ऐसे भी आलोचक होते हैं जो आलोचना में केवल अनेक इष्ट मित्रों की चिन्ता करते हैं, यह आज भी हो रहा है, कल भी हो रहा था और आने वाले कल में भी होगा। इसलिए अच्छी व बुरी आलोचना में फ़र्क़ करना ज़रूरी है। इसलिए पूरी आलोचना को तुष्टीकरण का शिकार बताना ठीक नहीं है।

बीती और इस सदी की वे कौन-सी अहम घटनाएँ हैं जिन्होंने लोकतन्त्र की समरसता को भंग करने का काम किया है?

भारत एक बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और सामाजिक विविधताओं वाला देश है। जब भी भारतीय समाज व उसकी राजनीति में अनेकता या विविधता को भूलकर एक विचारधारा या एक दृष्टि को ही एकमात्र विचारधारा या दृष्टि कहा जाएगा तो कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी ही। पहले भी रही हैं, आज भी हैं और आगे भी होंगी। जहाँ तक घटनाओं का सवाल है, पिछली सदी की महत्वपूर्ण घटना एक तो स्वाधीनता आंदोलन है, जिससे भारतीय साहित्य व्यापक रूप से प्रभावित हुआ, दूसरी घटना देश का विभाजन है; तीसरी घटना हाल के वर्षों में दुनिया के विभिन्न देशों में समाजवादी व्यवस्थाओं का विनाश है जिसने वामपंथी सोच विचार को बहुत झटका दिया है। इन सब बातों का असर लेखकों कवियों पर पड़ा है और उनकी रचनाओं में इसकी अभिव्यक्ति भी दिखाई देती है।

लोग कहते हैं आलोचक की पाँचों उँगलियाँ घी में होती हैं पर मुझे लगता है कि आज सबसे उपेक्षित समाज आलोचकों का ही है। वह सबकी आँख का किरकिरी है- सच लिखे तो और ठकुरसुहाती लिखे तो। क्या आपको लगता है आलोचक होने का आपने कोई ख़ामियाज़ा उठाया है?

कभी भी किसी रचनाकार या आलोचक की पाँचों उँगलियाँ घी में तब तक नहीं होतीं जब तक वह साहस के साथ अपने सोच-विचार का सच कहता है। सच से बिदकने वाले लोग अधिक होते हैं और उसको सुनने-सहने वाले लोग कम होते हैं। इसलिए पहले भी आलोचकों ने निर्भय होकर सच कहने का साहस किया है और आज भी कुछ आलोचक ऐसा करते हैं। इसीलिए आज आलोचकों की स्थिति अधिक ख़राब है और भारतेंदु युग, द्विवेदी या छायावाद युग में आलोचकों की स्थिति कोई बहुत अच्छी थी, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

हर लेखक लेखन की शुरुआत कविता से करता है। नामवरजी और रामविलास शर्मा ने भी शुरुआती दौर में कविताएँ लिखीं। क्या आप अपनी किशोर वय में कविता लेखन की ओर कभी प्रेरित हुए?

कविता से शुरुआत तो अवश्य की पर अब तो कविताएँ मेरे पास भी नहीं हैं। हाईस्कूल तक हिन्दी और भोजपुरी में कविताएँ लिखता था। अपने क्षेत्र के कवि सम्मेलनों में भी कभी-कभी जाता था। इसलिए हमारे क्षेत्र में ऐसे लोग आज भी मिल जाएँगे जो मुझे 'कविजी' कहते हैं पर बाद में साहित्य पढ़ने के बाद लगने लगा कि ये कविताएँ ऐसी नहीं हैं जिनकी रक्षा की जाए व छपने को दिया जाए। इसलिए इससे विदाई ली व आलोचना में प्रवृत्त हुआ। रामविलासजी और नामवरजी या विश्वनाथ त्रिपाठी भी चलताऊ कविता नहीं लिखते। रामविलासजी का संग्रह भी छपा है। वे अज्ञेय के सम्पादन में आए 'तार-सप्तक' के एक कवि भी थे। नामवरजी ने भी बाद में कविता लिखना छोड़ दिया। उनकी अप्रकाशित कविताएँ एक चयन में भी आई हैं। इसलिए इनसे मेरी तुलना करना इनके साथ ज़्यादती है।

राजेन्द्र यादव का मानना था कि 'हंस' के ज़रिए दलित और स्त्री-विमर्श की मुहिम उन्होंने चलाई। आपके अनुसार वे अपने सिवा किसी को इन विमर्शों का पैरोकार नहीं मानते थे। ऐसा क्यों?

यह तो उनका भ्रम था कि हिन्दी में उन्होंने दलित-विमर्श या स्त्री-विमर्श को आगे बाया। उसे 'हंस' का मंच दिया। इन दोनों से जुड़े लेखकों को, विचारों को बढ़ाया पर हिन्दी में ही उनसे पहले से स्त्री समस्याओं की चर्चा होती रही है और बहुत अहम लिखा गया है। जैसे महादेवी वर्मा की किताब 'शृंखला की कड़ियाँ' जो 1942 में छपी थी। उस किताब के निबन्ध 1935-36 में लिखे गए थे। इसका मतलब यह है कि स्त्री-विमर्श राजेन्द्र यादव ने शुरू नहीं किया बल्कि स्त्री-विमर्श को दिग्भ्रमित करने का काम ज़्यादा किया। वे समझने लगे कि स्त्री की स्वतन्त्रता उसकी देह की ही स्वतन्त्रता है जबकि उसकी स्वतन्त्रता उसकी चेतना की स्वतन्त्रता से जुड़ी हुई है। इसलिए दलित-विमर्श या दलित साहित्य के सन्दर्भ में उनका योगदान ज़रूर महत्वपूर्ण है।

आपने कहीं यह भी लिखा है कि उन्हें परम्परा और स्मृति के नाम से उबकाई आती थी। ऐसा क्यों?

बिना स्मृति व परम्परा-बोध के कोई भी कला विकसित नहीं होती-साहित्य भी नहीं। इसीलिए बहुत लोगों ने परम्पराओं व स्मृतियों को याद दिलाते हुए रचनाएँ लिखी हैं। काशीनाथ सिंह ने 'महाभारत' की कथाभूमि पर उपसंहार उपन्यास लिखा है। 'महाभारत' नहीं होता तो वे यह कृष्ण कथा कहाँ से लिखते। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' लिखी तो उसमें तुलसी दिखाई देते हैं। तुलसी 'रामचरित मानस' में लिखते हैं तो उसमें वाल्मीकि दिखाई देते हैं। इसलिए परम्परा व स्मृति से विच्छिन्न होकर कोई सार्थक रचनाशीलता नहीं होती। कठिनाई तब होती है जब परम्परा को दोहराया जाए या उसका अनुकरण किया जाए। अच्छा रचनाकार परम्परा को तोड़कर भी उसे जीवित रखता है बल्कि परम्परा से विद्रोह निराधार नहीं होता। परम्परा है, तभी उससे विद्रोह किया जा सकता है पर उसके लिए भी परम्परा का बोध ज़रूरी है।

आप बिहार में पैदा हुए। यानी एक पिछड़े प्रदेश की पैदाइश। अभी भी बिहार वही है, गोपालगंज वही है– कुछ भी ख़ास नहीं बदला। न समाज, न नेता, न क़स्बों-गाँवों का रहन-सहन आप वहीं रह गए होते तो आज कहाँ होते?

ऐसा है कि अगर वहीं रह गए होते तो वहीं होते जैसे वहाँ बहुत-से लोग हैं। बाहर निकलने से दीन-दुनिया का बोध ज़्यादा हुआ। विचारों का, विविधताओं का, नवीनताओं का, टकराहटों का बोध अधिक हुआ। और उनमें से नई राह बनाने की चिन्ता भी अधिक बढ़ी। इसलिए आज जो कुछ हूँ मैं वह इन टकराहटों-नवीनताओं से जुड़ा हुआ है। इसलिए बिहार में रहता तो शायद यह सब नहीं हो पाता।

आज अपने समय से कविता आक्रांत है। शुद्ध कविता की खोज दुर्लभ है। क्या जनान्दोलनों से दूर होना ही कविता के पिछड़ेपन की वजह है?

कविता आज भी हर तरह की लिखी जा रही है। बहुत-सी किताबें मेरे पास आती हैं। देखकर लगता है रूप, लक्ष्य, स्वभाव भी कविता का बदल रहा है। इसीलिए केवल एक विचारधारा-भावधारा की कविता खोजना ज़्यादती है। समकालीन कविता के साथ फ़ार्म के लेबल पर देखिए, गीत भी लोग लिख रहे **शेष पृष्ठ 34 पर...**

के ख़तरे ज़्यादा घनीभूत दिखाई देते हैं, उनकी दृष्टि में आलोचना की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि वह साहित्य में बेहतर लोकतन्त्र की स्थापना के लिए रचना में सामाजिक संघर्षों और मानवीय स्वतन्त्रता के लिए की जा रही जद्दोजहद की आगे बढ़कर पड़ताल करे और सहमतिवाद की गतानुगतिक लीक से अलग हटकर प्रतिरोध का मंच बने। नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय, दोनों वाम चिन्तन के आलोचक थे किन्तु आलोचना की जो सैद्धांतिकी मैनेजर पाण्डेय ने अपने लिए अपनाई उस पर नामवरजी बहुत बल देते नहीं जान पड़ते। कविता को समझने की कसौटियाँ भी दोनों आलोचकों की अलग-अलग हैं। कविता में नामवरजी यदि केदारनाथ सिंह या विनोद कुमार शुक्ल की भाषाई कलात्मकता की प्रशंसा कर सकते थे या उसकी शिल्पविधि पर प्रसन्न हो सकते थे तो मैनेजर पाण्डेय ऐसे कवियों से अलग उन कवियों पर भरोसा टिकाते हैं जिनकी रचना अपनी ही बौद्धिकता में ही घिर कर नहीं रह जाती बल्कि जनता के सुख-दुख से अपना नाता जोड़ती है। उनके लिए कविता का अर्थ है कि उसमें समाज का प्रतिबिम्ब दिखे, समाज का क्रिटीक दिखे और वह जनरुचि का सम्मान भी करे। इस तरह कहा जा सकता है कि वे ऐसी रचना या आलोचना के हिमायती रहे हैं जो सम्प्रेष्य हो, जनसंवेद्य हो तथा उसका अपना सामाजिक नज़रिया हो। इस अर्थ में वे समाज की विडम्बनाओं पर दृष्टिपात करने वाले आलोचकों में सर्वाधिक प्रखर थे। ❑

● कहानी



जो घर जारे आपना...

टेकचन्द

"यू इडियट विलेज पीपल! डोंट नो हाउ टू बीहेव विद एन ऑफ़िसर...? ऑल ऑफ़ यू ढैड़ इज़ ढैड़..."

दलित मोहल्ले में धाराप्रवाह अंग्रेज़ी में गालियाँ दी जा रही हैं। दिनदहाड़े बाआवाज़-ए-बुलंद।

"यो किसनै छेड़ दियो तड़के-तड़क...?"

"ले बीर आज तो साँझ तक यो अटर पटर सुणनी पड़ेगी ...हो ली हे लाली तेरी पढ़ाई, जा भीतरला घर चली जा दादी धोरै वहाँ ही पढ़ लिए और आती बारी थोड़ी लस्सी लेती आइए...!"

मोहल्ले की औरतों ने अपने-अपने हिसाब से प्रतिक्रिया दी।

हालाँकि यह लगभग हर रोज़ का काम हो चुका था। लोग अभ्यस्त होते जा रहे थे शाम के समय के लिए मगर आज तो सुबह-सुबह ही (भूतपूर्व) एसीपी रामचन्द्र रंगा ने ऊँची आवाज़ में गालियाँ देनी शुरू कर दीं थीं। लोग अंग्रेज़ी तो बहुत नहीं समझते थे मगर 'ढैड़' शब्द को बहुत अच्छे से महसूसते थे।



'ढैड़' वह शब्द था जो उनके लिए गाँव के ऊँची जात वाले इस्तेमाल करते थे और यह शब्द पिघले शीशे की तरह आत्मा में उतर जाया करता था। हालाँकि इधर इन दिनों यह शब्द लुप्तप्राय है। मगर भू.पू. एसीपी रामचन्द्र रंगा अंग्रेज़ी की गालियों में इसे ऐसा पिरोता कि फिर-फिर प्रासंगिक हो जाता। भाले की नोंक-सा तीखा और मारक।

कभी एसीपी रामचन्द्र का पूरे गाँव में दबदबा था मगर तब जब वह खुद गाँव में नहीं रहता था। एसीपी रामचन्द्र देहात के ऐसे गाँव से था जहाँ बारह क़ौमें अपनी सीमाओं और क्षमताओं, हदों और दायरों के साथ रहती थीं। खेतिहर समाज से उनके पुरखे ज़मींदारों के खेतों में काम करते आए थे।

रामचन्द्र का कुनबा जिनके खेत जोतता-बोता था उन ज़मींदारों का सबसे बड़ा चक्क था और सबसे ज़्यादा रौब भी। ज़ाहिर है रामचन्द्र के कुनबे को औरों से ज़्यादा अनाज मिलता था। गाँव में सबसे ज़्यादा उन्हीं ज़मींदारों का रुतबा था। उसी अनुपात में रामचन्द्र के परिवार को भी मान-सम्मान मिलता था। रामचन्द्र का परिवार इस कारण ज़्यादा पोषण पाता था।

पूरा परिवार अच्छे डीलडोल का लम्बा ठाड़ा था। मगर सारी सेहत थी ज़मींदारों के खेतों को जोतने-बोने-काटने के लिए। खलिहान से अनाज ढोकर ज़मींदारों का कोठार, भंडारघर भरने के लिए।

रामचन्द्र के पिता जयचन्द ने पीढ़ियों की खबत देखी थी। उन्हीं खेतों में पैदा होना और वहीं खरपतवार की तरह बढ़ते जाना। सूखकर झुलस जाना और वहीं तेज़ धूप में सुलग कर राख हो जाना।

ये खेत नहीं जैसे ज़िन्दा श्मशान हों। यहाँ उनके वंशज ज़िन्दा जलकर राख होते चले गए।

जयचन्द अक्सर कहा करता—

"हम जल कै राख हो जावैं तो उनका मुख उजला होवै।"

मोहल्ले का कबीरपंथी जगजीवन राम यहीं से अपना भजन उठा देता-

"हे जी

सिर को काट लड़ै सूरमा धड़ से जूझे आण

कूद पड़ै युद्ध के माहीं तब पहचाण पड़े फ़कीरी। जीवित धुकै मोशाण (श्मशान)..."।

अर्थ भी साथ-साथ आ जाता-

शूरवीर बहादुर सिर हथेली पै ले कै देह से लड़ता है। ऐसे योद्धा होंगे तो ही जीत सकते हैं। यह ज़िन्दा श्मशान पूजना, धोंकना है..."

यही था इनका जीवन। कोई थोड़े सम्मान के साथ अपनी नियति को प्राप्त होता। कोई अपमान का गरल पीकर। नियति सबकी एक जैसी थी। जिसका ज़मींदार बड़े चक्क बड़े दिल वाला, वह स्वस्थ सुघड़ और जिसका ज़मींदार ज़मीन का भी खून चूस ले वह इनको कहाँ बख़्शे? 'जैसा खाए अन्न वैसा होए मन', को फलीभूत करते हुए जयचन्द का परिवार अन्य दलितों से स्वस्थ और समझदार हो गया था। उनकी तरह चतुराई दिखाते हुए रामचन्द्र को इलाज के बहाने दिल्ली में रहने वाली बुआ के यहाँ भेज दिया गया। वहीं रहकर रामचन्द्र पढ़ा। शहर में पढ़ता रामू देखते-ही-देखते रामचन्द्र

सम्पर्क : ई-मेल : tekchand.du@gmail.com

बन गया। लम्बा ठाडा बाँका छैला जवान। और फिर पुलिस में भी भर्ती हो गया।

"सस्ता बखत था भाई! बिना रिस्पत (रिश्वत) दिए, बस घी दूध छाछ अफसराँ का घर पहोंचा कै जयचन्द नै छोरो पुलिस में लगवा दियो...!"

अक्सर गाँव में कहा जाता।

रामचन्द्र तरक़्क़ी करता हुआ एसीपी के पद तक पहुँचा। एक बार भर्ती का इंचार्ज भी बना। पुलिस कैम्प में ही बंगला-गाड़ी, नौकर-चाकर। माँ-बाप मर चुके थे। अब अफ़सरी उसके सिर पर चढ़कर बोल रही थी। ऐसा पद आस-पास के गाँवों की छत्तीस बिरादरियों में किसी के पास नहीं था मगर इस पर सबसे ज़्यादा हक़ एकाधिकार उनपे वही ज़मींदार किसान समझते जताते थे जो पीढ़ियों से उसकी पीढ़ियों का दोहन कर रहे थे। वे ही अब एसीपी रामचन्द्र के पद का भी दोहन करने लगे थे। उन्होंने किसी को भी नज़दीक नहीं लगने दिया। गाँव के छोटे बच्चे भी इतने समझदार हो जाते हैं कि खेत-खलिहान में जहाँ किसी पेड़ में मीठे फल मिलें, किसी बेल-झाड़ी में मीठी कचरी-बेर मिले उसका पता किसी को नहीं देते, यहाँ तो एसीपी मायने इस धरती का ईश्वर।

एसीपी रामचन्द्र गाँव में रहता नहीं था मगर उसके चर्चे रहते थे। लोग बातें करते थे-

"मजाल है इस जयचन्दे के रामू नै कोई अपणी जात बिरादरी का बालक भर्ती करवाया हो...?"

"अरे वो तो छोड़! अपणा कुणबा घर रिश्तेदारियाँ मै तै भी कोई नहीं लगवाया..."

"बेरा ना भाई! अपणी माया नै अपणा साथ ले कै मरेगा यो रामचंदर जी!"

"हाँ भई! माया तो बहोत जोड़ ली सुणा है कि वे ही उनका ज़मींदार दलाली कर रह्या है... नारनौल, रेवाड़ी, रोहतक, सोनीपत तै लड़के बालक ले कै आवै थे, हर भर्ती पै इसनै पचास हज़ार दे दिया करें थे बाक़ी खुद कितणा लेवै थे पता नहीं...."

और यह भू.पू. एसीपी रामचन्द्र की अंग्रेज़ी पीकर बकी गई हिन्दी गालियों से भी समझ में आ जाता था।

"आए वाज़ अब्सोल्यूटली राइट के तुम ढैड़ों का कोई काम नहीं करवाया यू बास्टर्ड! हो इसी लायक दो लात सुबह जागते लगै और चार लगै रात सोते टाइम तुम्हारे पिछवाड़े! यू विलेज पीपल!"

यूँ पूरे गाँव में बाँगरू बोली और ओकारान्त मेवाती मिली बोली जाती थी मगर एसीपी रामचन्द्र का परिवार पूरे गाँव से अलग हिन्दी मिश्रित टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलता था या खड़ी बोली। गाँव की बोली से उनका कुछ ख़ास लेना-देना नहीं था।

"भाषा बोलत जाने नहीं जिनके कुल के दास..."

यूँ भाषा से लेकर व्यवहार के मामले में यह कुनबा अलहदा था। उनका व्यवहार किसी से मिलता था तो ज़मींदारों से। बाकी गाँव वालों से मिलता भी नहीं था। इस कारण इनका स्वभाव किसी से मिलता-जुलता नहीं था।

"भाई जब तक पोस्ट पै रह्यो इसकी फूँकार तै घास जला करै थी..."

"हूँ एसीपी... पर अब तो पद पै ना रह्यो...?"

"हाँ पर ठसक तो वो ही है रस्सी जल गई पर बल ना टूटो..."

"हाँ, जभी तो लटैर (रिटायर) हो कै गांम मै कोठी बणाई है..."

"फेर भाई! इतणी भरती करी... मार मुलक को धन कमायो वो कहाँ गयो?"

"अरै जाणों कहाँ अपणा बावला छोरा को इलाज करवाण मै लगा दियो अमरिक्का तक ले कै गयो! बता भला अमरिक्का किस साला तै फिरी मै दवाई दे देवे है... अमरीक्का तो देही भी तोड़ दे पर आँख्या को त्यौर भी ले लेवै है..."

सब तरफ़ सन्नाटा। अब किसी ने अमरीका से दवाई ली हो तो जवाब दे। ये लोग तो अपने गाँव-रिश्तेदारियों, गंगाजी-जमुनाजी से बाहर ही नहीं निकले थे। हाँ देही तोड़ दे और आँखों की रौशनी भी छीन ले का मुहावरा समझते थे।

लेकिन रामचन्द्र का ब्याह तो नौकरी से पहले ही हो गया था। चार बच्चे हुए। एक से एक सुन्दर। दो लड़कियाँ, दो लड़के, मगर छोटा लड़का पैदा हुआ तो उनकी नौकरी लगी थी। इस कारण उसे अपने लिए शुभ मानते थे और खूब प्यार करते थे। यही लड़का लालू कालान्तर में मानसिक रोगी घोषित हुआ। जिसका इलाज उसने अमरीका तक जाकर करवाया। लोग लड़के की मानसिक हालत को रिश्वत से जोड़ते थे। रिश्वत का कारण मानसिक हालत मानते थे। कौन-सी चीज़ पहले शुरू हुई, यह गाँवभर में शोध का विषय था।

"भाई सब यहीं लिकड़ ज्यावै है... देख रिस्पत अकेली ना आवती... देण वाला की हाय, बद्दुवा (बद-दुआ) ले कै आवै है... लोगां नै अपणा खेत घर पलाट बेच कै रुपिया दिया है... जब जा कै बालक भरती होया है..."

"ना रै सुणी है के पहलाँ ना लेवै था, यो छोटा छोरा मै खराबी आई अर वो मैंटल होयो, खरचो घणों होयो इलाज मै, जब थोड़ी ऊप्पर की कमाई करणी पड़ी..."

'सुणी है के यूरोप में भी इलाज करवायो! यूरोप कहाँ पड़े है ? ... ऊ... पाणीपत तै आगै... या फिर यमना नगर कै ओरे-धोरे होवैगो।"

तरह-तरह की बातें। बातें ही थीं। एसीपी रामचन्द्र इसी तरह की बातों-क़िस्सों, उदाहरणों में ख़ुद से ज़्यादा गाँव में रहा।

उसकी तूती बोलती थी। जब भी किसी शादी या अवसर पर गाँव में आता, पूरे लाव-लश्कर के साथ। ये आया और वो गया मगर जाने के बाद भी देर तलक बातें हवा में तैरती रहतीं। जैसे अच्छी क़िस्म का इत्र लगाने वाले के चले जाने के बाद भी हवा में महकता रहता है।

मगर घर-बिरादरी से कोई नहीं लगाया। लोग रोष में रहते। एक-दूसरे की खिंचाई भी करते-

"हाँ थमनै कर ले भरती... चढ़ा दें ड्यूटी पै... कुत्ता कै घी हजम होवै है भला ?

थमनै जो कन्धा पै बिठावै थम उसका कान मैं मूत्तो हो... सही करो थाणेदार नै..."

रामचन्द्र लम्बे समय तक थानेदार रहा। और गाँव घर पड़ोस में थानेदार ही कहलाता रहा। आख़िरी प्रमोशन के तौर पर एसीपी का पद और कुछ दिन भर्ती का अवसर मिला था। लम्बे समय तक थानेदार रहने

के कारण सम्बोधन ही थानेदार पड़ गया था। प्रमोशन हुआ। नए बच्चे तो एसीपी कहने लगे मगर पुराने लोग अब भी थानेदार ही कहते थे।

एसीपी रामचन्द्र रिटायर हुए तो हालत ऐसी नहीं थी कि शहर में कोठी बना लें। गाँव लौटे। भीतर के घरों में तो गलियाँ तंग थीं। चोहत्तर चार में मिले हुए प्लॉट में मकान बना लिया। कहें तो कोठी गाड़ दी।

एक लम्बे युग तक दौड़ता-भागता अतिव्यस्त और शक्तिशाली रहा व्यक्ति एकाएक ठहर-सा गया। जो बमुश्किल झलक देता था, मिलना, हाथ आना तो असम्भव...

दिनभर में सैकड़ों सैल्यूट, सैकड़ों नमस्ते, पांलागन और हज़ारों दीन-हीन आँखों में उम्मीद की तरह चमकने वाला व्यक्ति एकदम ख़ाली हो गया।ठाड़ी देह, गोरा रंग, झुर्रियाँ मगर माँस से भरा हुआ सख़्त चेहरा, चाँदी जैसे चमकते सफ़ेद बालों से भरा हुआ सिर। ज़बरदस्त रोब और अब एकदम ख़ाली। बहुत बड़ा वैक्यूम। कब तक अकेला बैठे?

कई मन्ज़िल का मकान। ऊपरी फ़्लोर में बेटा-बहू। एक में अनब्याही बेटी और उसकी किताबें। पत्नी ऊपर-नीचे आती-जाती रहती। सबसे नीचे बैठक में अकेला वह खुद और घर के बाहर नाम की तख़्ती। छोटे अक्षरों में लिखा भू.पू. (भूतपूर्व) और बड़े फॉन्ट में एसीपी रामचन्द्र रंगा। अंदर राम्मू तन्हा अकेला और बाहर रामचन्द्र और यह तख़्ती। चलती गली, भरा मोहल्ला, मगर नितान्त अकेलापन और बोरियत। पछतावे, भूल, ग़लतियाँ, मगर स्वीकार न करने का ग़ज़ब का दुस्साहस, ढीठपन।

गाँव-बिरादरी के हर उम्र के लोगों ने टाइमपास के लिए शग़ल पाल रखे थे। ज़्यादातर ने ताश की बाज़ियाँ पकड़ रखी थीं। गली में जहाँ कहीं भी छाँव होती, चबूतरों पर छज्जों के नीचे, चौपाल में जहाँ भी जोड़ीदार जुट जाएँ ताश, बीड़ी, हुक्का-हुक्की, कभी घर कुनबे से चाय-पानी इत्यादि।

कुछ ऐसे जिन्होंने ज़िन्दगीभर कसाला किया था। वह कहते-

"भाई बहोत कर लिया! भतेरा कमा लिया! इब के करे जावैं और मरे जावैं? बालक हो गया कमावण खावण लायक... इब तो बस टैम पास हो ज्या और चलते हाथ पांवा राम जी बुला ले! बस किसी की सेवा टहल ना चहिए..."

और जो नहीं पढ़ पाए न कहीं रोज़गार ले पाए वह कहते

"बस भाई दे रह्या है दिनां कै धक्का कहाँ नौकरी धरी है? ओवरेज हो लिया है... अब तो बस गुजारो हो जावै कभी कम्पनी बुला ले है कभी ब्रेक दे देवै है... इस साला एसीपी नै भी तो भरती मै तै दो बार बाहर कर दिया... जब लग जावतो तो लग ही जावतो तो आज हौलदार होतो... मेरा साथ का कई एस्साई हो चुका हैं..." इत्यादि।

कई तो ख़ुद के लिए या अपने यारे-प्यारे सगे-सम्बन्धी की भर्ती न होने के कारण एसीपी रामचन्द्र के प्रति क्षोभ में रहते थे।

गली से निकलते ऐसे लोग भू.पू. एसीपी रामचन्द्र को अनदेखा करके निकलते। वह प्लास्टिक की नीलकमल कुर्सी पर बैठकर अक्सर अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ता रहता। इस कुर्सी ने बैठक के भीतरी भाग से बाहर दरवाज़े और फिर गली तक आने में काफ़ी लम्बा मगर बेचैनियों भरा सफ़र तय किया है। अख़बार की कई-कई बार पढ़ी जा चुकी ख़बरों से नज़रें उठाकर आने-जाने वालों को कनखियों से देखता। आने-जाने वालों को लक्षित कर खँखारता-खाँसता, मगर लोग जैसे मूक योजनाबद्ध ढंग से दबे पाँव बिना ध्यान दिए, बिना जताए निकल जाते और आगे जाकर किसी और को या अगल-बग़ल से निकलते किसी अन्य को राम राम ताऊ! चाचा राम राम! इतनी ज़ोर से कहते कि भू.पू. एसीपी रामचन्द्र सुन सके। फिर बुक्का फाड़कर हँसते और कहते-

"हाँ इब होवैगी इसकै खाँसी खुर्रा टीब्बी जब तो दहाड़े करे तो... यू इडियट नॉट एलिजिबल..."

ऐसा ही कुछ ताश के खेल में भी होता। रिटायरमेंट के कुछ दिन तो एकाआध ने टोक लिया—

"आओ जी साहब! लगा लो बाज्जी!"

"खेल्लो हो थाणेदार साहब?"

पहले ना-नुकर और फिर बाद में पुराने समय का राम्मू और नए समय का भू.पू. एसीपी रामचन्द्र रंगा धीरे-धीरे बाज़ी में शामिल होने लगा।

"साहब पत्ता तो ठीक गैरो!"

"आपको ध्यान कहाँ है?"

"बाज्जी ना बिगड़ जावे थाणेदार साहब!"

"गल्त चाल चली आपनै स्साब!"

शुरू में इस तरह के द्विअर्थी वाक्य बड़े धैर्य के साथ कहे गए मगर फिर रिटायरमेंट बासी पड़ने लगी और रोज़ की बात हुई तो लोगों को मान-अपमान की नई-पुरानी बातें याद आने लगीं। यहाँ बाज़ी ख़राब होने पर जोड़ीदार के साथ जूतम-पैजार कर कपड़े तक फाड़ लेने वाले लोग आख़िर कब तक धैर्य धारण करते!

ग़लत चालों, हारती बाज़ियों के बहाने 'अगली-पिछली भूल-चूक लेनी-देनी' होने लगी।

"किसनै थाणेदार बणा दिया तू यो पत्ता फेंका है?"

"सलूट मार-मार कै कती अकल एड्डी मैं चली गई है... यो बेग्गा (बेगम) फैंकण की चाल थी के?"

"अगली बार बेगम को थामे रखता तो..."

"रै बावली बूच कती अकल तै रिटायर हो लियो है...? बैग्गा की कोली क्यों भर रह्यो है बुढ़ापा मैं...? फैंक क्यों न देता...?"

"रै बावली..." यहाँ अंग विशेष को पागल या बावला घोषित कर देने वाली अथवा ज़नाना घोषित कर देने वाली गालियों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। पाठक स्वयं अपने विवेक, भाव-बोध और सांस्कृतिक ज्ञान के अनुसार बावली... के आगे रिक्त स्थान को भर लें।

ऐसे में बमुश्किल एकआध बाज़ी हो पाती। भू.पू. एसीपी रामचन्द्र के धैर्य का बाँध टूट जाता और वहीं सारे पत्ते फेंक देते। तमतमाकर उठ जाते। सीधा बैठक में, और कैंटीन से लाई गई अंग्रेज़ी खोल लेते। घूँट अंदर जाते ही धाराप्रवाह प्रत्युत्तर में हाइब्रिड गालियाँ।

"यू विलेज पीपल... डोंट नो हाउ टू बिहेव विद एन ऑफ़िसर...!"

यह लगभग हर दिन का काम था। भू.पू. एसीपी रामचन्द्र पद पर नहीं थे मगर घोड़े पर सवार थे। ऊपर के कमरे में सिविल सेवा की तैयारी कर रही उनकी सबसे छोटी बेटी बुदबुदा रही होती—

"आप ख़ुद भी तो नहीं जानते... लोग अपने बनाने पड़ते हैं, सिविक सेंस... डिप्लोमेटिक स्ट्रेटजी... यू डिड नॉट मेक इट डैड..."

इधर एक हाथ में पैग लिए भू.पू. एसीपी रामचन्द्र दूसरे हाथ में फ़ोन पकड़े किसी से बतला रहे होते। आवाज़ इतनी तेज़ कि बैठक के बाहर गली में से आते-जाते लोगों को सुनाई पड़ती। कुछ को समझ में भी आती।

"यस इट वाज़ माय फ़ोल्ट दैट आई रिटर्न दिस विलेज... घैटो..."

और दीवार पर जड़े मेडल टँके चौड़े सीने वाले फ़ोटो को ताकते रहते।

बाहर पड़ोस के चौंतरे से आवाज़ आ रही होती-

"यो मेरा दहला... तुरुप... और वो तो उस बावली... पुलिसिया नै बाज्जी खराब करवा दी ना तो मैं के हार मान्नूं हूँ..."

मोहल्ले का उम्रदराज़ बूढ़ा कबीरपंथी जगजीवन राम, लगती उखड़ती, हारती-जीतती इन बाज़ियों से तटस्थ मूँज कूटता, रस्सी बँटता, कभी पुराने कपड़ों की कतरनों से रस्सी बुन रहा होता। रस्सी बुनते जैसे विचारों को गूँथ रहा होता। इस सारे कार्य-व्यापार को देखता रहता। ताशवालों को और कभी रस्सी में बल दिलवाने नौजवानों को कहता-

"कबीर साहब नै सही कही है कि

भाई जो घर जारे आपना चले हमारे साथ..."

"के मतलब बाबा ? कोई पूछता।"

मतलब यो कि सब नै पद पोस्ट ओहदा रसूख का घर बणा लिया है। उसी रह रहे हैं... मैं अफ़सर, मैं नेता, मैं अमीर, मैं-मैं-मैं बस इन्हीं पद और मैं को फेर में रहो... यो घर जलाओ एक दिन तो पद मतलब यो घर छोड़ना ही पड़ेगा, अपने इस घर नै जला कै कबीर साहब के साथ बाज़ार जाओ! बाज़ार वो जहाँ कुछ लेणे के लिए उसी के वज़न की चीज़ देणी होवै है... कबीर की लाठी कोई लकड़ी की लाठी ना है वो गज है वो नापतोल परखने का मीटर है, वो शर्त है कि इस 'मैं' को मार दे! जला दे तब वह परमतत्त्व मिलेगा... जो ऐसा करै वो ही हमारी साधना का रास्ता पै साथ जा सकै है..."

लोग समझ जाते। एकआध समझदार कह भी देता-

"हाँ, बाबा कहवै तो ठीक है! पर कबीर साहब न्यू भी कहवा करै हैं कि"

'अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत'

"हाँ! हाँ!" कई जन सुर में सुर मिलाते। फिर कोई कह देता—

"जब जागो तभी सवेरा।"

"सत साहेब!" जगजीवन राम कहता।

मगर फिर भी भू.पू. एसीपी रामचन्द्र की बैठक से धाराप्रवाह गालियाँ हवा में तैर रही होतीं।

यू विलेज पीपल... यू इडियट यूँ डोंट नो हाउ टू बिहेव विद एन ऑफ़िसर..."। ❑

परम्परा से विद्रोह...

पृष्ठ 30 से आगे...

हैं, ग़ज़लें भी। जबकि हिन्दी कविता की मुख्यधारा में शमशेर, त्रिलोचन भी थे ग़ज़ल लिखने वालों में, इस वजह से उनकी निन्दा भी होती थी। कुछ फ़ार्म जैसे ग़ज़ल है, उसमें संगीत के कारण लोकप्रियता अधिक आती है और उसकी आयु भी बढ़ाती है।

आज से लगभग साठ साल पहले मुक्तिबोध ने कहा था कि वर्तमान समाज चल नहीं सकता। पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता। 'ब्रह्मराक्षस' में 'फिर भी मैल, फिर भी मैल' कहकर इस सभ्यता समीक्षक ने हमारे समाज का चेहरा उद्घाटित किया था। केदारनाथ सिंह भी कहते हैं, 'इतनी गर्द भर गई है दुनिया में/ कि हमें ख़रीद लाना चाहिए एक झाड़ू /आत्मा के गलियारों के लिए/ और चलाना चाहिए दीर्घ एक स्वच्छता अभियान'। वर्तमान समाज का आज भी कमोवेश यही परिदृश्य है। इसकी धमनियों में भ्रष्टाचार, कदाचार, अत्याचार, व्यभिचार का खून बह रहा है। यह वर्तमान समाज चल सकता है कि नहीं?

अभी तो यही समाज चल रहा है लेकिन समाज का इतिहास बहुत लम्बा होता है। स्वयं भारत का समाज इसका सबूत है कि हज़ार सालों से भारत का समाज अन्यायों-अत्याचारों के साथ चलता रहा है और आज भी चल रहा है। अब यह कब ख़त्म होगा। इसके बारे में मुक्तिबोध की एक राय थी पर उसका आधार ग़ायब हो गया। वे यह समझते थे कि समाजवादी चेतना आई तो यह समाज बदलेगा। जो वाक्य आपने उद्धृत किया, उसी में यह कहा कि पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता, पर आज पूँजी ही ऊपर है; वही नियन्त्रित कर रही है। इसलिए समाज का वर्तमान तो अंधकारमय है पर इसके विरुद्ध कोई जनजागरण या जनचेतना आदि नहीं है। अतः यह कहना मुश्किल है कि कब तक चलेगा, कब समाप्त होगा। समाज असल में ऐसी कोई समस्या पैदा नहीं करता जिसका वह कोई समाधान न कर सके। देर-सबेर इसका समाधान तो होना ही है। यदि जीवित रहता है तो इसलिए मनुष्यता में विश्वास करके ही समाज को बदलने की कल्पना व चिन्ता की जा सकती है।

आज से दो-तीन दशक पहले साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने का जो दौर था, वह ख़त्म हो रहा है। लाइब्रेरी संस्कृति ख़त्म हो रही है। जब पढ़ा ही नहीं जाएगा तो वह साहित्य समाज में भला क्या भूमिका अदा करेगा और जब साहित्य की ही चर्चा न होगी तो आलोचना की क्या चर्चा होगी?

साहित्य जो है वह अपने पास जाने वाले उन्हीं लोगों को कुछ देता है जो अपने साथ कुछ लेकर जाते हैं। मतलब सोच की प्रवृत्ति, कल्पना की प्रवृत्ति लेकर साहित्य के पास जाएँ तो कोई सोच, कोई विचार मिल पाता है। आजकल हमारे सामने दो माध्यम ऐसे हैं- एक तो टेलीविज़न, दूसरे सोशल मीडिया जिनमें न सोच की, न कल्पना, न विचार की ज़रूरत होती है। इसलिए इन दोनों के कारण साहित्य में दिलचस्पी कम हुई है और उसकी चिन्ता भी कम हुई है। इसलिए सामाजिक संवेदनशीलता घट रही है और जिस सार्थकता की बात मैं कर रहा हूँ, वह घट रही है। साहित्य करता क्या है? वह दूसरों के अनुभवों में साझेदारी सिखाता है। आप प्रेमचन्द का 'गोदान' पढ़ रहे हैं। आप होरी नहीं हैं पर होरी के दुख-दर्द को समझते हैं, यही उनकी सफलता है। यदि आप बुनियादी तौर पर उस मानसिकता के नहीं हैं तो आप 'गोदान' पढ़ें या गुलशन नन्दा का 'झील के उस पार', कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इसलिए साहित्य में निश्चय ही दिलचस्पी कम हो रही है जिससे वे साहित्य से कुछ पा नहीं रहे हैं। चिन्ता की बात है कि आज के रचनाकार भी पाठकों का कम ध्यान रखते हैं और अपने इष्ट-मित्रों का ज़्यादा। वही हाल आलोचना का भी है।

पहले जनान्दोलन थे तो कविता का आंदोलनकारी स्वरूप था। वह आंदोलनों से परवान चढ़ी। मज़दूर आंदोलनों तक में गीत गाए जाते थे। जब जनता कविता से ही नहीं जुड़ पा रही तो कहानी व उपन्यासों की कौन कहे। भले ही उपन्यासकार, कथाकार महान माने जाते हों, पर उनकी चर्चा भी बीस-पचास तक ही महदूद है तो आख़िर ऐसे साहित्य की आज के समाज में क्या भूमिका होगी?

आप कुछ तैयारी के साथ उसके पास जाएँ तो आप कुछ पाएँगे। पर वह तैयारी न हो, वह मानसिकता न हो, वह कल्पनाशीलता और समर्पण अगर आपके पास है ही नहीं तो आप इससे भला क्या पाएँगे।

शायद यही वजह है कि लेखक का अपने समाज पर धेले भर भी असर नहीं रहा। इसीलिए सत्ताएँ उससे भय नहीं खातीं। क्योंकि आंदोलनों में प्राणतत्त्व फूँकने वाली लेखनी अब कहाँ है? सोवियत संघ में बड़े लेखकों को बड़ी सज़ाएँ दी गईं। कारण यह था कि सोवियत संघ में जिनकी कविता छपती थी, बड़ी संख्या में उसे लोग लाइन लगाकर ख़रीदते थे। यही नहीं, जो उसके सत्ताधारी थे, वे भी साहित्य की चिन्ता करते थे। तभी तो उस पर दण्ड भी लगाते थे। आज का कोई राजनैतिक नेता किसी तरह का गम्भीर साहित्य नहीं पढ़ना चाहता, इसलिए कोई कुछ भी लिख दे, कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता। राजनीति पर साहित्य का बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्यिक रचनाएँ आम पाठकों से दूर हो गई हैं इसलिए आम पाठक भी उसे ज़्यादा नहीं पढ़ता। इसलिए साहित्य अब इस स्थिति में नहीं पहुँच पाया है उसका तो समाज पर क्या कुछ प्रभाव पड़ेगा, यह सोचने का विषय है। ❑

● जन्मदिवस पर विशेष



मैं अंत तक कवि रहना चाहता हूँ

(सुप्रसिद्ध कवि ***अशोक वाजपेयी*** से ***मनोज मोहन*** की बातचीत)

प्रश्न : आपने साहित्य के कम-से-कम पाँच दशकों को करीब से देखा है। आपने वह दौर भी देखा है जब हिन्दी में क्लासिक्स लिखे जा रहे थे, लेकिन आज वैसी बड़ी रचनाएँ देखने को नहीं मिलतीं। आप इसकी वजह क्या समझते हैं? इसकी वजह समाज में है या साहित्य में?

उत्तर : मैंने जब लिखना शुरू किया था पिछली सदी के पचासवें दशक में तो ऐसा अहसास होता था कि साहित्य की समाज में कुछ जगह है, उतनी नहीं जितनी होनी चाहिए, पर है। धीरे-धीरे यह जगह और घटती गई। इस विडम्बना की ओर पहले भी कई बार मैंने विवाद का जोख़िम उठाते हुए, कहा है कि जैसे-जैसे साहित्य में समाज की माँग बढ़ती गई है वैसे-वैसे समाज में उसकी जगह घटती गई है। यह क़यास लगाया जा सकता है कि जो समाज साहित्य में आया उसका असली समाज से अधिक सम्बन्ध नहीं रहा है। अपने ढंग से साहित्य लिखना आज भी जोख़िम उठाना है। समाज में साहित्य की जगह बनाने-बढ़ाने-बचाने का काम जिन सामाजिक संस्थानों को, जिनमें विश्वविद्यालय, हिन्दी अध्यापन, हिन्दी मीडिया, परिवार आदि शामिल करना था- उन्होंने अपनी भूमिका और ज़िम्मेदारी नहीं निभाई। उल्टे उनमें से कई ने तो लोगों को साहित्य से दूर किया।



मुझे इस स्थिति के लिए साहित्य को दोष देना ज़रूरी और उचित नहीं लगता। हिन्दी के बढ़ते मध्यवर्ग ने अपनी मातृभाषा और साहित्य के साथ विश्वासघात किया है, कर रहा है। प्रसाद, निराला, अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, मुक्तिबोध, शमशेर, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, कमलेश, विजयदेव नारायण साही आदि के पाठक इतने कम हैं जबकि उनका लिखा इतना कालजयी है। रही क्लासिक्स की बात तो हमेशा की तरह इस समय भी मीडियॉक्रिटी का राज्य बहुत फैल गया है और ज़्यादातर लेखक सफलता के चक्कर में पड़ गए हैं, सार्थकता का सरोकार छोड़कर। ऐसे में अपनी अलग सार्थकता के लिए जोख़िम भरी राह चुनने वाले कम नज़र आते हैं।

आपने एक कवि के रूप में शुरुआत की बल्कि आपकी मूल पहचान कवि की ही रही। साथ ही आपको ढेर सारे विशिष्ट सांस्कृतिक आयोजनों का सूत्रधार होने का श्रेय भी हासिल है। भारत भवन जैसा सांस्कृतिक केन्द्र आपने ही सम्भव किया। आपने विभिन्न कलाओं के बीच वह पुल बनाए रखा है जो इन दिनों कमज़ोर पड़ा है। इसके अलावा आपने आलोचनात्मक गद्य भी काफ़ी लिखा। आपकी अपनी नज़र में आपका सबसे पसंदीदा और महत्वपूर्ण काम क्या है?

अव्वल तो अपने काम का आकलन मैं स्वयं करूँ, यह उचित और नैतिक नहीं है। मुझे ऐसा करने की कोई मजबूरी भी नहीं लगती। दूसरे, मैंने शुरू कवि की तरह किया था और अंत तक कवि रहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि मैंने कविता के अलावा जो कुछ भी किया, वह किसी-न-किसी तरह से, मेरे कविकर्म का ही विस्तार है।

आप कविता की अपनी नागरिकता की बात करते रहे हैं लेकिन ऐसा लगता है जैसे हाल के वर्षों में अपनी इस मान्यता पर आपका भरोसा कुछ कम हुआ है। इन दिनों आपके सांस्कृतिक हस्तक्षेप बढ़े हैं। क्या कवि और लेखक की भूमिका को लेकर आपकी राय बदली है?

समय और परिस्थिति के अनुसार किसी को भी अपनी राय बदलने का हक़ है। मुझे भी। मुझे अब भी कविता नागरिकता लगती है पर घृणा-झूठ-हिंसा-हत्या-अन्याय आदि ने नागरिक माहौल इतना ज़हरीला कर दिया है कि अब वह मुझे पर्याप्त नागरिकता नहीं लगती। हम कवि के नाते इस स्थिति को असम्बोधित नहीं जाने दे सकते। हमारा मूल संघर्ष तो कविता के मोर्चे पर ही होगा जहाँ हम स्वतन्त्रता-समता-न्याय के मूल्यों की रक्षा में प्रहरी बनेंगे पर इतना पर्याप्त नहीं होगा। हमें व्यापक नागरिक संघर्ष में भी शामिल होना होगा। हममें से कई कवि ऐसा कर भी रहे हैं। यह कविता का अपना नैतिक तक़ाज़ा भी है। मैं तो दशकों से यह कहता रहा हूँ कि साहित्य सामान्यीकरण, समग्रीकरण और सरलीकरण के विरुद्ध अथक सत्याग्रह होता है। यही उसका असली मानवीय और आध्यात्मिक-सामाजिक औचित्य है।

हम इन दिनों एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जो लगातार साहित्य और संस्कृति-विरोधी होता जा रहा है। वहाँ उपभोग सबसे बड़ा मूल्य है और धनिक होना सबसे बड़ा लक्ष्य। ऐसे में कविता और साहित्य की जगह घटती जा रही। बल्कि वे भी प्रदर्शन का सामान हुए जा रहे हैं। क्या इस प्रक्रिया को बदलने का कोई रास्ता है?

ऐसा सामान्यीकरण करने से हमें बचना चाहिए। हमेशा ही समाज का एक बड़ा वर्ग साहित्य और संस्कृति के प्रति उदासीन रहता आया है। उसे साहित्य-विरोधी कहना ठीक नहीं होगा। उसके पास अपना मनोरंजन

सम्पर्क : *ई-मेल अशोक वाजपेयी : ashokvajpeyi12@gmail.com*
ई-मेल मनोज मोहन : manojmohan2828@gmail.com

चार कविताएँ : **अशोक वाजपेयी**

त्रयी

(एक)
मृत्यु का गलियारा भरा है ठसाठस
ठसाठस भरे हैं जीवन के आँगन के आँगन
और परछियाँ
बर्बर आ रहे हैं लगातार न जाने कहाँ से
कविता की खिड़की सूनी है
शब्द पता नहीं कहाँ चले गए छोड़कर....
(दो)
वह कुछ भी कर सकता था
वह कुछ भी कह सकता था
वह चाहता तो बचा सकता था
वह ईश्वर था
उसने कुछ न करने-कहने का सरल उपाय
चुना।
(तीन)
यह तुम्हारी संध्या है
पृथ्वी की नहीं ब्रह्माण्ड की नहीं
आकाश की नहीं.....
सिर्फ़ तुम्हारी संध्या है।

क्षणैः क्षणैः

(एक)
सपनों की तहों के बीच
जिसने सच्चाई छुपा रखी है——
वह कौन है?
(दो)
सपनों के आकाश में उड़ते पक्षी के पंख
मेरी कविता के ऊपर निश्शब्द
कब गिर गए?
(तीन)
सपने में कोई गा रहा है...
सिर्फ़ स्वर हैं, शब्द नहीं :
भाषा बनने में अभी देर है।
(चार)
'चल रहे हो?' इन दिनों कहा नहीं जा सकता
'क्या तुम चले गए?' कहना क्रूर होगा।
समय ने हमें कितना लाचार कर दिया है।

क्षण भर

(एक)
उलझी हुई जड़ों में
पहुँचकर पानी कुछ देर ठहरता है
फिर मिट्टी उसे सोख लेती है।

(दो)
क्या यह सम्भव है
कि सदियों पहले चली एक आवाज़
आज मुझ तक पहुँची है
सिर्फ़ यह कहने कि जैसे हो, चलते रहो।

(तीन)
जो हमें छोड़कर चले गए
जिन्हें हमने गँवा दिया
जो ग़ैब में गुम हो जाने के लिए ही आए थे-
क्या उन सबकी आवाज़ें इकट्ठी कर
एक विदा-गान रचा जा सकता है?

(चार)
क्या कभी आकाशों के ऊपर आकाश से
क्या सभी पृथ्वियों के अंदर किसी पृथ्वी से
माँ मुझे पुकारती है : समय हो गया?

(पाँच)
घने वृक्ष, बूढ़े पुरखे, प्राचीन छन्द
सब एक ही पंक्ति में बैठे रहते हैं
अथक प्रतीक्षा में।
(छह)
शुभ कहीं दूर चला गया है
मंगल अब डरकर नहीं बोलता
प्रार्थना में गान नहीं
शून्य बचा है।

कुछ क्षण और

(एक)
उसने पानी माँगा
उसने अँधेरा चाहा
उसने रौशनी करने के लिए कहा——
उसने रेशा-रेशा इस तरह
समय को सहा।

(दो)
शब्द कम थे पर इतने भी नहीं
समय कम था पर इतना भी नहीं
उम्मीद कम थी पर इतनी भी नहीं

(तीन)
गान रुक गया बीच में
लय भंग हुआ बीच में
आवाज़ ने फिर भी हार नहीं मानी
बीच में

(चार)
जल-प्रपात में
कौन गिरता है——
जल की असीम कामना
या कि पहाड़ का धीरज?

(पाँच)
जहाँ नहीं थे वहीं तो उसने रखे शब्द
जहाँ नहीं थी वहीं तो गई कविता
जहाँ से धुआँ उठा
वहीं तो उसने जलाई थी आग ❑

करने, सच्चाई को समझने के दूसरे उपाय होते हैं और इस लिए उसे साहित्य की दरकार नहीं होती। कुछ वर्ग ऐसे भी होते हैं जिन्हें कला रूप जैसे संगीत और नृत्य तो मोहते हैं, साहित्य नहीं। पर इतना तो मानना पड़ेगा कि यह एक और विडम्बना है कि हिन्दी अंचल में जैसे-जैसे शिक्षा व्यापक हुई, उस में साहित्य में अरुचि, साम्प्रदायिकता-जातिवाद-धर्मान्धता, नक़लचीपन आदि भी बढ़े हैं। 50 करोड़ हिन्दीभाषी हैं पर उनका शायद एक प्रतिशत भी साहित्य नहीं पढ़ता-गुनता। हिन्दी में लिखने का अर्थ आज इस अभिशाप का वरण करना भी है। सबसे विकट संकट तो हिन्दी मध्यवर्ग का अपनी मातृभाषा और साहित्य से दूर जाना, उसे अनायास तज देने का है। अगर इस मध्यवर्ग को हिन्दी का अध्यापन, स्कूल और उच्च शिक्षा के स्तर पर भाषा और साहित्य का आस्वादन करने, उनसे सच्चाई को समझने में दीक्षित नहीं करता तो स्थिति बदल नहीं सकती। शायद स्थानीय स्तर पर यानी हिन्दी अंचल के विभिन्न शहरों-क़स्बों में पुस्तकालय बनाने, साहित्य-यात्रा निकालने, सामूहिक गोष्ठियों और पुस्तक चर्चा आदि करने से कुछ फ़र्क़ पड़ सकता है। भला हो अगर कुछ लेखक लिखना छोड़कर या थोड़े समय के लिए स्थगित कर सोशल मीडिया पर साहित्य में रुचि जगाने का नवाचारी और कल्पनाशील उपक्रम करें।

लम्बे समय तक आपकी पहचान साहित्य में कलावादी प्रवृत्तियों के पैरोकार की रही। बदली हुई परिस्थितियों में आप साहित्य में कलावाद और विचारधारात्मक रुझानों की क्या जगह देखते हैं? क्या इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित किया जा सकता है?

हिन्दी में कलावाद मेरे लेखे कभी आया ही नहीं। साहित्य में भाषा, शिल्प, संरचना का आग्रह करना, साहित्य को अन्य प्रभावशाली अनुशासनों जैसे राजनीति, धर्म, सत्ता, आर्थिकी आदि के बरअक्स स्वायत्तता पर इसरार करना, कहाँ से और कैसे कलावाद है, आज तक किसी ने बताया नहीं। मैंने जीवन या समाज से निरपेक्ष स्वायत्तता का कभी न तो प्रतिपादन किया, न समर्थन। विचारधारा का विरोध या उससे असहमति, न तो विचार का विरोध है, न किसी तरह का कलावाद अपनी असहमति के बावजूद मेरे प्रिय कवि मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा रहे हैं जिनमें से हरेक में सच्चा सर्जनात्मक साहस था और वे अपनी कविता में अपनी विचारधारा का अतिक्रमण कर सके। मैंने विचारधारा की साम्प्रदायिकता का विरोध हमेशा किया है, अब भी करता हूँ। हमारे जो भी वैचारिक मतभेद हों, आज धर्मान्धता-साम्प्रदायिकता-जातिवाद-सामाजिक अन्याय के विरुद्ध हिन्दी के सभी महत्वपूर्ण लेखक एकजुट हैं। यह भी न भूलें कि इस विरोध की, इस बेहद कठिन समय में, पहल हम ही ने की है जिन्हें आप 'कलावादी' कहकर लांछित करते रहे हैं।

व्यक्तिगत तौर पर आपकी कविता का मैं मुरीद हूँ, लेकिन कुछ लोग आपकी कविता में कला के नाम पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं, आप क्या कहना चाहेंगे?

ऐसा आरोप किसी ने लगाया हो तो मुझे पता नहीं। भारत में संसार की महान शृंगार परम्पराओं में से एक, सदियों से सक्रिय रही है जिसे हिन्दी में बढ़ती विक्टोरियन क़िस्म की मानसिकता और नैतिकता ने भुला दिया या अस्वीकार कर दिया। निराला, शमशेर जैसे कवियों ने उसका कुछ पुनर्वास किया। मैं उसी उपक्रम में शामिल हुआ। ऐन्द्रियता को 'अश्लील' कहकर अवमूल्यित करना उचित नहीं है।

आप निरन्तर साहित्य के केन्द्र में रहे हैं। हिन्दी समाज बहुकेन्द्रित समाज में क्यों नहीं ढल सका? क्या कालजयी रचनाकार बनने के लिए यह आवश्यक है?

मैं निरन्तर साहित्य में रहा हूँ, यह तो सही है पर केन्द्र में होने का मुझे कोई मुग़ालता कभी नहीं रहा। अलबत्ता जब सत्तर-अस्सी के दशकों में इलाहाबाद-बनारस आदि केन्द्र माने जाते थे और उनका प्रभुत्व जैसा था तो मैंने कुछ कोशिश इस केन्द्रीयता को अपदस्थ करने की ज़रूर की थी।

हिन्दी समाज अपनी आवयविक बहुलता के कारण बल्कि उसी आधार पर बहुकेन्द्रित है। आज छोटे शहरों और क़स्बों से युवा लेखक आ रहे हैं, यह नहीं भूलना चाहिए। हम भी अपने आरम्भिक काल में सागर जैसे छोटे शहर से ही साहित्य में दाख़िल हुए थे। हमने जो पत्रिका वहाँ से 'समवेत' निकाली थी, उसमें अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, नागार्जुन, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, प्रबोध कुमार, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, विद्यानिवास मिश्र, केदारनाथ सिंह आदि की रचनाएँ और सहयोग मिले थे।

कालजयी होने के लिए, मेरी समझ यह है, समाज की विशेष संरचना शायद ही ज़रूरी होती हो। हमारे बहुत से कालजयी लेखक जैसे निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय आदि औपनिवेशिक शासन के दौरान हुए।

आप पिछले कुछ वर्षों के दौरान युवाओं से ख़ूब सम्वादरत रहे हैं। रज़ा फ़ाउंडेशन के कार्यक्रम देखते हुए यह प्रतीत होता है कि आप उन्हें संस्कारित करने का भी काम कर रहे हैं, लेकिन इस युवा पीढ़ी की रचनात्मकता से क्या आपको संतोष है?

मैं लगभग शुरू से ही युवाओं के साथ सम्वादरत रहा हूँ। 1967 में मैंने महासमुन्द में छत्तीसगढ़ के युवा लेखकों का एक सम्मेलन आयोजित किया था जिसमें लगभग सौ लेखक एकत्र हुए थे। बाद में, 'पहचान' पत्रिका में उस समय के पन्द्रह युवा कवियों के, जिनमें विनोद कुमार शुक्ल, कमलेश, जितेन्द्र कुमार, विष्णु खरे, चन्द्रकान्त देवताले, ज्ञानेन्द्रपति, विष्णु नागर आदि शामिल थे, पहले कविता-संग्रह प्रकाशित किए थे। भारत भवन में कृष्ण बलदेव वैद की पहल पर हमने विभिन्न भारतीय भाषाओं के सौ से अधिक युवा लेखक शिविरों की एक शृंखला में एकत्र किए थे। रज़ा फ़ांउडेशन के अंतर्गत सिर्फ़ साहित्य में नहीं बल्कि संगीत, नृत्य, ललित कला के क्षेत्रों में भी हम देशभर से युवाओं को शामिल करते आए हैं। हमारी शृंखला 'आज कविता' में सत्तर से अधिक युवा कवि भाग ले चुके। वार्षिक समागम 'युवा' में भी अब तक सौ से अधिक युवा भाग ले चुके। हमने शुरुआत में पचास वरिष्ठ लेखकों से प्रतिभाशाली युवाओं के नाम सुझाने का अनुरोध किया था जिनमें से लगभग साठ हमने चुनकर बुलाए।

आज के अधिकांश युवा तुरन्ता मनोवृत्ति से प्रेरित हैं। उन्हें तुरन्त प्रशंसा या स्वीकृति चाहिए और उन्हें नई संचार तकनीकी ने ऐसे साधन सुलभ करा दिए हैं। आमतौर पर उनको हमारी लम्बी परम्परा और स्वयं आधुनिकता की परम्परा का ज्ञान कम है और उनके बीच समवयसियों का एक परस्पर-प्रशंसा-मण्डल सा बन गया है लेकिन उनमें से कई में नवाचारी वृत्ति भी है और सच्चाई को अपने ढंग से देखने-विन्यस्त करने का जोख़िम भी। कुल मिलाकर उनमें आलोचना-वृत्ति शिथिल है। वे अक्सर आलोचना लिखते समय रूढ़ पदावलियों की माला ही फेरते हैं। रचनात्मकता तो है पर नवाचार कम है। यह खेद की बात है कि हिन्दी में तोड़-फोड़ कर नई राह खोजने वाला अवाँगार्द नज़र नहीं आता। पर इतना जोड़ दूँ कि हो सकता है, यह मेरी बूढ़ी आँखों की धुँधलाहट का नतीजा हो, वस्तुस्थिति नहीं।

रज़ा फ़ाउंडेशन के इन्हीं कार्यक्रमों को लेकर कुछ हल्क़ों में आपकी आलोचना भी होती है। कहा जाता है कि रज़ा के उत्सवों में कुछ ही नाम बार-बार रिपीट होते हैं मानो देश में युवा रचनाकारों का अकाल हो। आप क्या कहना चाहेंगे?

जो है उसका विश्लेषण-आकलन करने के बजाए जो नहीं है उसके आधार पर आलोचना करना आम बात है। कुछ नाम हम जान-बूझकर दोहराते हैं क्योंकि उनका रचनात्मक और आलोचनात्मक व्यवहार संतोषप्रद रहा है। हर बार नए नाम जुड़ते हैं। हमारी कुछ भौतिक सीमाएँ भी हैं। सच तो यह है कि युवाओं का इतना बड़ा, सुविचारित और नियमित आयोजन हिन्दी के अलावा किसी और भाषा में नहीं होता और यह एक महान कलाकार की दृष्टि और उदारता के कारण सम्भव हुआ है। हम अपने किसी आयोजन के लिए किसी सरकार या कॉरपोरेट से कोई वित्तीय सहायता नहीं लेते हैं।

हिन्दी में इधर साहित्येतर लेखन भी अपनी जगह बनाने लगा है। ऐसे लेखन को आप किस तरह देखते हैं? क्या ऐसा लेखन हिन्दी के महत्व में इज़ाफ़ा करता है?

हिन्दी में साहित्येतर लेखन का दशकों से अभाव रहा है और वह दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श की तरह हिन्दी में देर से आया है। कोई भाषा पर्याप्त या बड़ी नहीं हो सकती अगर उसमें साहित्येतर लेखन न हो। साहित्य सब कुछ नहीं कर सकता क्योंकि उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। भाषा की समृद्धि के लिए उसमें पर्याप्त साहित्येतर, ज्ञान-आधारित, रोचक लेखन भी होना आवश्यक है।

चूँकि आप रचनाकार होने के अलावा ज्ञान की अन्य विधाओं के भी गम्भीर अध्येता हैं, इसलिए आपसे यह जानना चाहता हूँ कि हिन्दी में साहित्येतर विधाओं— ख़ास तौर पर समाज अध्ययन की स्थिति के सम्बन्ध में आप क्या सोचते हैं?

पृष्ठ 57 पर जारी...

● जन्मदिवस पर विशेष



ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में शहर

कुमार मंगलम

गाँधी गाँवों में भारतीयता की मूल आत्मा को देखते थे और आधुनिकता की अंधी दौड़ से उत्पन्न मूल्यों के गिरावट को बचाने वाला संस्थानिक ढाँचा वे गाँव को समझते थे। नेहरू गाँव को सामंती अवशेष और सामंती जीवन की निशानी मानते थे। उन्होंने गाँवों को विकसित करने के लिए कई योजनाएँ तो बनाईं, लेकिन बिचौलिओं के आने से वे योजनाएँ धरातल पर उतर न सकीं, उधर शहरों में उद्योग-धंधे ने खूब तरक़्क़ी की। इस औद्योगीकरण और शहरीकरण की दौड़ में गाँव सिर्फ़ कच्चा माल निर्यातक बनकर रह गया। उदारीकरण के बाद तो गाँव शहरों में विलीन होने लगा, कुछ सेज़ के आस-पास, कुछ नगर-निगम तो कुछ शहरों-क़स्बों के विस्तार में गाँव भेंट चढ़ गए। कुछ गाँवों के नामोनिशान विस्थापन की वजह से, उद्योग के लिए कच्चा माल उगाहने की वजह से, तो कुछ बाँध, जल-विद्युत परियोजना इत्यादि की वजहों से मिट गया और फिर इन गाँवों का पुनः पर्यावास हो न सका। गाँव में इस शहरीकरण के दबाव की वजह से एक नई सामाजिकता का उदय होता है, जहाँ परम्परा का क्षरण बेहद ख़राब और मिलावटी संस्करण के साथ आधुनिकता मौजूद है।



नई आर्थिक नीति, जोत के खेतों का कम होना, खेती से पलायन, शहरीकरण के चलते सिर्फ़ गाँवों की अर्थव्यवस्था ही नहीं, उसके सांस्कृतिक रूप में भी तेज़ी से क्षरण हुआ है। गाँवों की सामूहिकता में बदलाव धीरे-धीरे अजनबीपन के रूप में लक्षित होने लगा है। अब गाँवों में भी अलगाव और टूटन दिखने लगा है। सामाजिक विसंगति के विद्रूप चेहरे का वास स्थान गाँव भी है। इंटरनेट और टीवी के माध्यम से बाज़ार की पहुँच अब गाँवों में भी है, बाज़ार ने गाँव के मूल्यों पर भी हमला बोला है, बाज़ार के साथ गाँव में कितनी विद्रूपता पहुँची है, इसकी बानगी आज के गाँवों में देखी जा सकती है, अब गाँव में सिर्फ़ स्त्रियाँ, बूढ़े और बच्चे ही रहते हैं। गाँव के त्योहारों में जवान अतिथि की तरह आते हैं और परदेशी की तरह वापस शहर लौट जाते हैं। ठीक इसी तरह गाँवों में जैसे-जैसे शहर का अतिक्रमण होता गया वैसे ही शहरों में गाँवों का भी अतिक्रमण होता गया है। शहरों में जो ग्रामीण आए, वे तुरन्त ही शहराती नहीं हो गए, उनके गँवई मूल्य आज भी मौजूद हैं। शहर का मध्यवर्ग जो अभी पूरी तरह से शहराती नहीं हुआ है, उसमें अभी भी भीतर कहीं गँवई मूल्य मौजूद है। अब स्थिति यह है कि गाँव न शहर हुआ और न ही शहर के सारे लोग शहराती हो पाए। आज़ादी के सत्तर साल बाद हमने एक ऐसे कम्पोज़िट कल्चर को जन्म दिया जो एक साथ अधुनातन और पुरातन दोनों है। गाँव अब ग्रामीण विस्थापन, गँवई मूल्यों के बिखराव, मध्यवर्गीय अभाव और दुश्चिंताओं के साथ-साथ दुर्धर्ष जिजीविषा का भौगोलिक स्थान है।

आज़ादी के बाद की हिन्दी कविता कई बदलावों की साक्षी रही है। इस कविता ने न सिर्फ़ अपने समय को दर्ज किया है बल्कि समाज, इतिहास, समाचार, कला, इत्यादि अनुशासनों की बातचीत में रह गई चीज़ों को भी दर्ज किया है। मुक्तिबोध-अज्ञेय से लेकर बिल्कुल आज के नए कवि की कविता तक आज़ाद भारत में घट रहे एक-एक बदलावों का सूक्ष्म रेखांकन इस कविता में मौजूद है और इस तरह यह कविता इन बदलावों का एक वैकल्पिक अनुशासन बनती गई। इस रेखांकन में शहर और गाँव रंगमंच का देश-काल-वातावरण बना, जहाँ सभी घटनाएँ घटित हो रही हैं। कविता अपने समय के यथार्थ को ही नहीं वरन यथार्थ के परतों में अनकही कहानियों को भी कहीं-कहीं सीधे तो कहीं बिल्कुल संकेतों में दर्ज करती चली आई है।

हिन्दी कविता के लिए शहर अथवा गाँव क्यों आवश्यक है? कोई भी रचना नगर अथवा ग्राम-संस्कृति को उसकी सम्पूर्णता में कैसे रेखांकित कर सकती है? शहर या गाँव सिर्फ़ अपनी परिसीमाओं और जीवन-शैली में ही अभिव्यक्त होते हैं? ये जन-जीवन और मनःमस्तिष्क पर जीवन चलाने की न्यूनतम चाह की हद तक हावी हैं, जहाँ चयन मजबूरी और महत्वाकांक्षा दोनों है। शहर और गाँव बहुत तेज़ी से बदलाव की चुनौतियों को उछालते हैं। हिन्दी में गाँव के प्रति एक अतिरिक्त और कुछ हद तक रोमानी आग्रह रहा है और शहर को हेय दृष्टि से या नकारात्मक रूपक के रूप में ही देखा जाता रहा है। कविता में शहर एवम् गाँव के द्वन्द्व का स्वर अज्ञेय की कविता 'साँप' और पन्त की कविता 'भारतमाता ग्रामवासिनी' से

सम्पर्क : ई-मेल : mangalam1509@gmail.com

निर्मित होता है। 'साँप' कविता पर ग़ौर करें तो नगर के चरित्र के सामने एक स्थाई प्रतिपक्ष के तौर पर गाँव की उपस्थिति मौजूद है। यानी जो नगरों का गुण-धर्म है उसके उलट गुण-धर्म की चीज़ गाँवों में मौजूद है। छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने भारत को 'ग्रामवासिनी' कहा है। 'भारतमाता ग्रामवासिनी' और 'अहा! ग्राम्य-जीवन भी क्या है?' से ही गाँव अपेक्षाकृत महिमामण्डित होता रहा। गाँव स्मृतियों का, मनुष्यता का, सहजता का प्रतीक बना रहा जबकि गाँव का यथार्थ आज़ादी के बाद जातिवाद, घृणा, कुण्ठा, असुविधा, दमन और उत्पीड़न का केन्द्र बनता गया। भूमंडलीकरण के बाद तो हिन्दी का अधिसंख्य जनवृत्त अपने लोक और ग्राम्य परिवेश से एक दूरी बनाकर शहरों की ओर आने लगा और गाँव के गाँव ख़ाली होते गए। लाँग नाइंटीज़ और अंतिम सदी की कविता में भूमंडलीकरण के बरक्स लोक-स्मृतियाँ आती हैं किन्तु उनकी अनुगूँजें शहर में रह रहे कवि की गाँव की स्मृतियों से जुड़ने की अथवा सांस्कृतिक विघटन के दौर में एक बीच का रास्ता तलाश लेने की रही है। वे स्मृतियों के माध्यम से सांस्कृतिक विघटन को सांस्कृतिक संलयन में और भूमंडलीकरण के बरक्स कविता में लोक को स्थानापन्न के रूप में देखते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में शहर और गाँव की दूरी तो बढ़ती ही गई, इसके साथ-साथ संकेतों में भी गाँवों की त्रासदी कविता में कम ही दर्ज हो पाई।

भारतीय शहरों के राजनैतिक और सांस्कृतिक रूपक को उपरिवत बातों के आलोक में देखा जा सकता है, जबकि कविताओं में अभिव्यक्त नगर-चित्र बहुधा भिन्न होते हैं। यहाँ शहरों के साथ गाँवों की बायनरी अनिवार्य घटक के रूप में शामिल होती है, इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता। शहर और गाँव अनिवार्यतः एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। राजेश जोशी लिखते हैं, "कविता का नगर चाहे बहुत भिन्न हो, उसमें कल्पना का तत्त्व बहुत अधिक या कम हो, लेकिन बाहर स्थित नगर से उसकी शक्ल थोड़ी-बहुत मिलती है।...जब भी वास्तविक शहर शब्दों में रूपान्तरित होता है, उसका चेहरा-मोहरा वही नहीं रहता जो उसका वास्तविक चेहरा है। यह शहर का पुनर्रचित चेहरा है। यह कविता का नगर है।"

ज्ञानेन्द्रपति हिन्दी कविता परिदृश्य के उन विरल कवियों में से एक हैं जिनके पास अपने क़िस्म की भाषागत व विषयगत मौलिकता है। उन्होंने अपने लिए एक विशिष्ट भाषिक विन्यास चुना है जिसमें समाज के लक्षित ही नहीं अलक्षित रह जाने वाले दृश्य भी अपनी समूची संवेदना के साथ दर्ज होते हैं। नई कविता, अकविता, नक्सलबाड़ी आंदोलन और बिहार-बंगाल के किसान आंदोलन से उपजी कविताओं के संधि-स्थल पर ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविताओं के लिए एक नई ज़मीन को तलाशते हुए हिन्दी कविताकाश में प्रकट होते हैं। जहाँ कविता के लिए वे एक नई भाषा, नए संकेत, नए बिम्ब और प्रतीक विधान की आवश्यकता मौजूद करते हैं जहाँ एक मज़बूत वैचारिक प्रतिबद्धता और गहरा सामाजिक आग्रह हो। इन आशयों में ज्ञानेन्द्रपति कविता की अंतर्वस्तु एवं स्थापत्य को अपनी कविताओं से बदलते प्रतीत होते हैं। जहाँ निराला-मुक्तिबोध-त्रिलोचन-नागार्जुन की परम्परा तो मौजूद है ही, अपना एक विशिष्ट स्वर भी मौजूद है। 'आँख हाथ बनते हुए', 'शब्द लिखने के लिए ही यह काग़ज़ बना है', 'भिनसार', 'संशयात्मा', 'गंगातट', 'मनु को बनाती मनई','गंगा-बीती' और 'कविता-भविता' तक में प्रेम और संघर्ष के बीच जीवन की उदात्तता, निम्नवर्गीय जीवन की प्रामाणिक दास्तान, भूमंडलीकरण के बरक्स लोक-जीवन का महाख्यान दर्ज है। विषयगत विविधता और एक नया भाषिक विन्यास ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं की विशिष्टता बनती है।

ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में विभिन्न शहरों के विभिन्न चित्र मौजूद हैं। इनकी कविताओं में प्रमुखता से पटना, कलकत्ता और बनारस प्रमुखता से स्थान पाते हैं। 'शब्द लिखने के लिए ही यह काग़ज़ बना है' में ज्ञानेन्द्रपति की कविता का मुहावरा विराट जीवन से जीवन-द्रव्य लेकर एक विशाल कैनवस की निर्मिति करता है। 'ट्राम में एक याद' जैसी कविता में चेतना पारीक और 'बनानी बनर्जी' में जहाँ बनानी बनर्जी से आत्मिक मुलाक़ातें हैं, उन्हीं कविताओं में इन मुलाक़ातों के साथ उनकी राजनैतिक पक्षधरता बहुत स्पष्ट और मुखर होकर हमारे सामने विस्फारित रूप में सामने आती है। 'ट्राम में एक याद' कविता चेतना पारीक की याद नहीं है, वह कलकत्ते की याद है, उस कलकत्ते की, जो वाम राजनीति और क्रान्ति का केन्द्र है। याद है, इसलिए रिक्ति है वहाँ और वह रिक्ति प्रेम की नहीं क्रान्ति की है। विद्रोह के बाद का सूनापन इस कविता में वह रोमानियत भरती है कि बार-बार पाठक उसे प्रेम कविता में रिड्यूस कर देता है। दरअसल 'ट्राम में एक याद' को प्रेम कविता के रूप में देखना कविता के अभिधेय अर्थ के वैभव को ही जानना है। कुमार अम्बुज 'ट्राम में एक याद' के बारे में लिखते हैं, "यह एक ऐसी कविता की स्मृति है जो बहुजन की स्मृति में है। जिसे मैं अकेला या कुछ पाठक ही नहीं, बल्कि एक विशाल कविताप्रेमी समुदाय याद करता रहता है। इसलिए इस कविता का स्मरण किसी दुर्लभ का स्मरण नहीं, बल्कि उस बृहत्तर स्मृति का हिस्सा होना है, जो आपको इस सुख से भर देती है कि आपकी स्मृति में बसी यह कविता किसी भी कला-गणराज्य में भारी बहुमत से विजयी होगी।" फिर भी इस कविता पर बात करना है कि प्रेम के कोमल तन्तुओं से रची-पगी यह कविता अपने भीतरी निहितार्थों में प्रेम कविता से कहीं अधिक है। इस कविता का पूर्वार्द्ध चेतना पारीक के चरित्र को रेखांकित करने में जाता है और इसके लिए ज्ञानेन्द्रपति फ़्लैशबैक प्राविधि का इस्तेमाल करते हैं। इस निर्मिति में वे ऐन्द्रिकता और दैहिकता से परे चेतना पारीक को एक स्त्री को पूरे अस्तित्व एवं उसकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में रेखांकित करते हैं। आज़ाद-ख़याल और अपने होने की चेतना से परिपूर्ण एक क्रान्तिधर्मा अस्तित्व है चेतना पारीक का। चेतना पारीक की आदतें, चयन, रुचियाँ, भावुकता, दीवानापन इत्यादि उसे एक सम्पूर्ण अस्तित्व प्रदान करती हैं।

कवि द्वारा चेतना पारीक से पूछा गया सवाल "आँखों में उतरती है किताब की आग?" एक आसान सवाल नहीं है बल्कि एक क्रान्तिधर्मा सहयात्री की वह स्मृति है जो संवेदनायुक्त है और बदलाव की उद्दाम आकांक्षा का स्वप्न पाले दो स्वप्नजीवी हैं और दो समयों का पिछले समय का अपने समय में प्रक्षेपण है। यह सवाल बक़ौल ग़ालिब 'एक आग का दरिया है और डूब के जाना है' के बरक्स जब 'आँख से ही न टपका तो लहू क्या है' के समानांतर पूछा गया सवाल है। अपने उत्तरार्ध में यह कविता कवि के वर्तमान में आती है और स्मृतियों के एकांत से निकल अचानक कान्तार के एकांत व शोर में आकर गतिमान हो जाती है। यहाँ कविता राग-द्वेष, शोर-गुल, क्रिया-प्रतिक्रिया, योग-वियोग, सुख-दुख में शामिल हो जाती है। कलकत्ता एक विकसित नगर है

जहाँ महानगरीय सभ्यता, यान्त्रिकता, मनुष्यगत संवेदना, निरपेक्षता, भीड़, सांसारिकता, अनुपस्थिति, आत्म-निरपेक्षता, एकांत इत्यादि का बोलबाला है। सभी कोमलतम भाव अलभ्य, कठोर, अप्राप्य और स्मृतिपरक है—

'इस महावन में फिर भी एक गौरैये की जगह ख़ाली है
एक छोटी चिड़िया से एक नन्हीं पत्ती से सूनी डाली है
महाननगर के महाट्टहास में एक हँसी कम है
विराट धक्-धक् में एक धड़कन कम है कोरस में एक कंठ कम है
तुम्हारे दो तलवे जितनी जगह लेते हैं उतनी जगह ख़ाली है
वहाँ उगी है घास वहाँ चुई है ओस जहाँ किसी ने निगाह तक नहीं डाली है।'

'ट्राम में एक याद' कलकत्ता की याद है, चेतना पारीक की याद नहीं, इसी वजह से वे कलकत्ता का अविकल प्रस्तुति देते हैं-

'उतना ही शोर है इस शहर में वैसा ही ट्रैफ़िक जाम है
भीड़-भाड़ धक्का-मुक्का ठेल-पेल ताम-झाम है
ट्यूब रेल बन रही चल रही ट्राम है
विकल है कलकत्ता दौड़ता अनवरत अविराम है।'

कविता की अगली पंक्ति बड़े राजनैतिक निहितार्थों को अभिव्यक्त करने वाली पंक्ति है—

'फिर आया हूँ इस नगर में चश्मा पोछ-पोछ देखता हूँ
आदमियों को किताबों को निरखता लेखता हूँ।'

यहाँ कवि द्वारा आदमियों और किताबों को निरखना-लेखना शहर में हुए उन बदलावों का रेखांकन है जो बहुत धीमा घटित हुआ बदलाव है, जिसके चिन्ह बहुत धूमिल हैं। राजनैतिक बदलाव की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है और इसे सहज लक्ष्य कर पाना मुश्किल होता है। इन बदलावों में सबसे पहले मनुष्य और किताबें ही अपने विपक्षी विचार को अपदस्थ करती हैं। अचानक रातों-रात किताबें बदल जाती हैं, अधिसंख्य और महत्वाकांक्षी मनुष्य सत्ता समर्थित विचारों की ओर सबसे पहले समझौता करते हैं। इस कविता में किताबों को देखना एक समझदार लेखकीय युक्ति है। किताब के इस सन्दर्भ को ज्ञानेन्द्रपति की एक कविता 'टेलीविज़न को देखो' से स्पष्ट समझा जा सकता है—

'किताब एक ख़तरनाक चीज़ है
आदमी के हाथों में उसके जाते ही
सल्तनत के पाए डगमगाने लगते हैं
किताब की चुप्पी में बन्द चीख़ें और ललकारें
किताब को खोलते ही
बारूद की गन्ध की तरह उठने लगती हैं।'

एक तरफ़ आदमी और किताबों में हुए बदलावों का रेखांकन तो दूसरी ओर भीड़ में भी सूनापन, एक ऐसे परस्पर विरोधी विपर्यय का निर्माण करता है जो विरुद्धों का सामंजस्य नहीं बल्कि सुस्पष्ट राजनैतिक वैचारिकता के ताप से अपने को संरक्षित करने का उद्यम है। यहाँ स्मृति लोप नहीं है बल्कि उस स्मृति के बहाने से उस स्वप्न को खाद-पानी देते रहना है जो अपनी असफलताओं में भी सफलता के ताप को बचाए हुए है। यह स्मृति 'राम की शक्ति-पूजा' की तरह चेतना को जगाने वाली नहीं है बल्कि मनुष्य को हताशा से बैठा देने वाली है। एक तरफ़—

'ऐसे घन अंधकार क्षण में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि अच्युत।'

और दूसरी तरफ़—

'देखता हूँ अबके शहर में भीड़ दूनी है
देखता हूँ तुम्हारे आकार के बराबर जगह सूनी है
चेतना पारीक, कहाँ हो कैसी हो?
बोलो, बोलो पहले जैसी हो?'

कविता के अंत में यह प्रश्नकुलता कवि द्वारा चेतना पारीक की स्मृति के बहाने उसे जानने भर की आकुलता नहीं है, बल्कि उस महास्वप्न के फलीभूत नहीं होने की पीड़ा और आगे हताशा को लक्ष्य कर के जन्मी पीड़ा है। यह स्मृति संत्रास और किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति को जन्म देने वाली है। भले ही हिन्दी का अधिसंख्य जनवृत्त इसे प्रेम की कविता के रूप में पढ़ता आया है किन्तु अपने बृहत्तर अर्थों में प्रेम के परिपाग में पकी यह नक्सलबाड़ी आंदोलन के विफलता और स्वप्नभंग की कविता है।

'बनानी बनर्जी' कविता भी 'ट्राम में एक याद' को विस्तारित करती है। बनानी बनर्जी द्वारा शरद बाबू से प्रार्थना कर अपने जीवन की कहानी कहलवाने का आग्रह हो या रविन्द्र की शब्दावली में सजल मेघ और उज्ज्वल रौद्र की आकांक्षा, प्रेम की नहीं क्रान्ति की कहानी कहती है। यहाँ ज्ञानेन्द्रपति प्रेम की चाशनी में क्रान्ति के, मनुष्यता के असफल होने के अवसाद की कहानी कहते हैं। दरअसल ज्ञानेन्द्रपति के यहाँ क्रान्ति और प्रेम विपर्यय नहीं, एक सहचर अवधारणा है।

ज्ञानेन्द्रपति की आरम्भिक कविताएँ जो उनके आरम्भिक संग्रह 'भिनसार' में संकलित हैं, उनमें पटना और कलकत्ता तथा बाद के संग्रहों में बनारस के नगर-चित्र मिलते हैं। ज्ञानेन्द्रपति के नगर में पर्यावरणीय चिन्ता के साथ-साथ नगर के अधिक मानवीय सरोकार को बचाए रखने की भी चिन्ता मौजूद है। एक छोटी कविता से इसे समझा जा सकता है—

'नदी के किनारे नगर बसते हैं
नगर के बसने के बाद
नगर के किनारे से
नदी बहती है।'

इस संकलन में पटना और कलकत्ता का नगर-चित्र बहुतायत में है, लेकिन इस नगर-चित्र में गाँव से एक आपसदारी का सम्बन्ध मौजूद है। यानी नगर की चिन्ताओं में ज्ञानेन्द्रपति गाँव से दूर नहीं होते बल्कि वे उस अविभाज्यता की तलाश करते हैं, जिसमें नगर का अस्तित्व गाँव से जुड़ा हुआ है। 'भिनसार' में एक कविता है, 'पटना का गोलघर'।

'गंगा से आया किसान
थपथपाता है इसका विशाल पेट
डरते-डरते
और हिसाब गुनता है कि इसमें
आख़िर कितना आता होगा अनाज
इसको भरने में कितने गाँवों के फेफड़े हाँफते होंगे
कि बीच में ही घबराकर
दिखाता है अपने बच्चे को
देखो, गंगा पार वहाँ उस कोने पर
है अपना गाँव

उस ओर जिधर
जा रहा है स्टीमर का धुआँ।'

'भिनसार' शीर्षक संकलन में पटना में घटित हो रहे सम्पूर्ण क्रान्ति और उसकी असफलताओं को लेकर लिखी गई कविता भी उल्लेखनीय है। इन कविताओं को पढ़ते हुए ज्ञानेन्द्रपति की राजनैतिक प्रतिबद्धता को साफ़-साफ़ समझा जा सकता है। '15 अगस्त, 1972', 'पटना : 18 मार्च, 1974', 'पटना : 18 मार्च, 1975', 'जे.पी. की प्रतिमा', 'अगस्त 1986', 'पटना : गाँधी मैदान' इत्यादि कविता में जे.पी. आंदोलन के केन्द्र पटना की अनेक छवियाँ विन्यस्त हैं, इसमें रैलियाँ हैं, छात्र आंदोलन है, एक असफल क्रान्ति की देखती आँख की दिखावनी है। ज्ञानेन्द्रपति एक कवि के रूप में नहीं बल्कि एक आंदोलनकारी के रूप में इन सबमें शामिल हैं। जो परिवर्तन की आकांक्षा के साथ है।

'दूर अभी भी गोलियाँ चल रही हैं
और मेरी मुट्ठी में वह पत्थर है जिसे मैं जानता हूँ कहाँ मारना है
आख़िरी बार
मेरी मुट्ठी में यह कविता नहीं काला पत्थर है
बिल्कुल ठीक जगह फेंके जाने को तना
इस पर उगी हुई खून की लकीरें बेचैन नसों की तरह धड़कती हैं।'

भारतीय सभ्यता का एक लघुत्तम रूप बनारस में देखा जा सकता है। भारतीयता की अवधारणा एक संश्लिष्ट अवधारणा है, इसके बनने में विविध प्रकार के मत-मतान्तरों का योग रहा है। बनारस का धर्म, शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस वजह से इसका इतिहास बहुआयामी है। कई बार इतिहास इतना वस्तुनिष्ठ नहीं होता कि वह यथार्थ के संघनित तहों को रेखांकित कर सके। जब इतिहास के पन्ने से कुछ छूट रहा होता है अथवा जो इतिहास में सम्मिलित नहीं हो पाता है उसे साहित्य अपने पन्नों में जगह देता है। ज्ञानेन्द्रपति की बनारस विषयक कविताएँ वैकल्पिक स्पेस का सृजन करती है। इसमें इतिहास, पुराण, स्थापत्य, स्मृति, त्रासदी, उन्मुक्त परिहास है। इसमें बेचैन संघर्ष है और सुकून की अड्डेबाज़ियाँ भी हैं। अतीत मोह है तो नई चुनौतियों से उलझता-जूझता विमर्श भी है। 'गंगा-बीती' में पर्यावरणीय चिन्ताओं के साथ-साथ गलियों-गालियों का जनपद बनारस एक साथ अभिव्यक्त हुआ है। बनारस एक साथ प्राचीन और आधुनिक दोनों है। इसी वजह से इसमें एक द्वन्द्व है। बनारस के रचाव की जब भी बात होगी तो उस परम्परा की बात होगी जो अतीत का प्रगतिशील या अग्रगामी हिस्सा है। इसी वजह से ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में विगत से वर्तमान के अंकुरण की सतत् प्रक्रिया से उपजा द्वन्द्वात्मक निषेध जैसी ध्वनि प्रमुख है।

बनारस को रचते हुए सीधे गंगा को अथवा गंगा-घाट को लेकर कुछ कविताएँ सम्बोधित हैं। इन कविताओं में गंगा और गंगा-घाट की चमक-दमक के पीछे के सच को रेखांकित करती है। 'मानव-चित्त के अकूत कलुष से करिखायी' में और 'उसका सूर्य होगा उत्तरायण' में गंगा की स्थिति बिल्कुल साफ़ है। इन कविताओं में आप 'शर-शैय्या', 'भेक-भैय्या', 'सूरजसोखी' इत्यादि कविताओं को रख सकते हैं।—

'मोक्षदायिनी गंगा अब मोक्षकामिनी
नाले में बदली निर्वाक् बही जाती है बहावहीन
मानव-चित्त के अकूत कलुष से करिखायी
आह! कितनी मकर संक्रन्तियाँ बीतेंगी कि उसका सूर्य होगा उत्तरायण, शर-शैय्या से।'

कुछ नगर-चित्र हैं, जो बनारस से सम्बन्धित हैं। इन कविताओं में बनारस शहर की छवियाँ हैं। जैसे बड़ा दिन-लम्बी रात, अड़ी, आज़ाद पार्क इत्यादि। एक कविता है 'एक ह्रस्व हुई दीर्घिका' इस कविता में प्राचीन बनारस के इतिहास को पढ़ा जा सकता है। बनारस किसी दीर्घिका (तालाब) की ही भाँति सिमटता चला जा रहा है। किसे ख़याल है जो आज का मैदागिन है कभी वहाँ मन्दाकिनी नाम का तालाब हुआ करता था, अब उसके चिन्ह भी देखने को नहीं मिलता है।

'गंगातट' और 'गंगा-बीती' ज्ञानेन्द्रपति की सर्वाधिक चर्चित कृतियाँ हैं। इन दोनों कृतियों में गंगा और बनारस केन्द्र में हैं। एक तरह से 'गंगा-बीती', 'गंगातट' का विस्तार है। इन दोनों संग्रहों में ज्ञानेन्द्रपति का कवि-द्रष्टा विस्तार पाता है। इन संग्रहों में वे पर्यावरण विमर्श को पर्यावरणीय चिन्ता के साथ कविता के केन्द्र में लाते हैं। फिर गंगा या बनारस कोई इकाई नहीं, एक प्रतिनिधि पाठ के रूप में तब्दील होकर हमारे बीच एक बड़े चिन्ता के तौर पर उपस्थित होते हैं। प्रकृति अपने सामान्य अर्थ में मानवेत्तर ही नहीं मनुष्य के साहचर्य के साथ इन कविताओं में मौजूद है। ज्ञानेन्द्रपति उपभोग की लक्ष्मण रेखा का शिनाख़्त करते हैं और उसका एक गाँधीवादी रूपक इन कविताओं में तलाशते हैं, जिनके गुणसूत्र हमारे औपनिषदिक मानस में पहले से मौजूद हैं।

'गंगातट' की कविताओं को पढ़ते हुए आलोचक नामवर सिंह सैलानी की दृष्टि से देखे गए बनारस की बात करते हैं, तो राजेश जोशी इन कविताओं को ज्ञानेन्द्रपति की दूसरी नागरिकता की कविता बताते हैं किन्तु 'गंगा-बीती' की कविताओं में ज्ञानेन्द्रपति नामवर सिंह की स्थापना सैलानी-दृष्टि को अपनी गहन पर्यवेक्षण दृष्टि से और राजेश जोशी की स्थापना दूसरी नागरिकता को प्राथमिक नागरिकता से अपदस्थ कर देते हैं। 'गंगा-बीती' की पहली ही कविता 'नौका-विहार' इस अपदस्थ करने का सबसे सबल उदाहरण है। यहाँ सैलानी-दृष्टि और नागरिक कर्त्तव्य से अधिक एक सजग कवि की चिन्ता अधिक दिखती है। वे इस कविता में शहर के सहृदय और कुलीन-शालीन नागरिकों को भी नहीं बख़्शते। भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' पर भारत भाइयों को रोने के लिए आह्वान किया था लेकिन यहाँ 'गंगा-दुर्दशा' में ज्ञानेन्द्रपति किसका आह्वान करें, सहृदय तो नाले में तब्दील होती गंगा में बुढ़वामंगल मनाने में व्यस्त हैं। ज्ञानेन्द्रपति के पास रोने का विकल्प नहीं है, वे करुणा-सिक्त-मन से दर्ज कर रहे हैं, बनारस को, गंगा को और अपने समय को-

'बीमार है और तीमारदार के बग़ैर, इससे क्या
नदी का भी मन करता है—नहाए
करियाए पानी वाली नदी
उजियार रातों में
चाँदनी से नहाती है
उस समय नौका-विहार करते घूमते हैं
नगर के सुरुचि-संपन्न लोग
अघायी दिखती सुरुचि से ढँकी भोग-भूखी क्रूरता
कि नदी मर रही है और वे बजरे पर बुढ़वामंगल मना रहे हैं
शहर के कुलीन-शालीन, शहर के सहृदय।'

ज्ञानेन्द्रपति इस कविता में एक सूचना देते हैं, गंगा मर रही है, वहीं

गंगातट में शामिल कविता 'नदी' और 'साबुन' को याद करें, जहाँ नदी एक साबुन की टिकिया से हार जाती है। यह अंतर है 'गंगातट' और 'गंगा-बीती' की कविताओं में। यह सिर्फ़ देखने का अंतर नहीं है, यहाँ कवि नदी के साथ-साथ जी रहा है।

'आह! लेकिन
स्वार्थी कारख़ानों का तेज़ाबी पेशाब झेलते
बैंगनी हो गई तुम्हारी शुभ्र त्वचा
हिमालय के होते भी तुम्हारे सिरहाने
हथेलीभर की एक साबुन की टिकिया से
हार गईं तुम युद्ध'।

ज्ञानेन्द्रपति की गंगा-विषयक और बनारस-विषयक कविताओं के विस्तार की बानगी 'गंगातट' में शामिल 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' और 'गंगा-बीती' में शामिल 'ह्रस्व हुई दीर्घिका' में देखें-

'लहरतारा!
गंगा का गुप्त संगी!
कभी मीलों फैले निर्मल सरोवर का जलावशेष
अब एक बड़ी-सी गंदी गड़ही
जिसकी जर्जर देह में जलात्मा सड़ रही।'
और
'एक ह्रस्व हुई दीर्घिका है-
मन्दाकिनी का मैदागिन-अवशेष—
कम्पनीबाग—नगर-मध्य के म्युनिसिपल पार्क—का केन्द्रबिन्दु
वह जो काई-कलवित नन्हा-सा तालाब कि मानो बड़ा-सा एक चहबच्चा/कि जो है विख्यात मैदागिन चौराहे का नाम-मूल-काल-कुतरी
एक ह्रस्व हुई दीर्घिका है।'

ज्ञानेन्द्रपति यहाँ अपनी कविताओं में शहर का एक वैकल्पिक इतिहास लिख रहे हैं। गंगातट और गंगा-बीती में मौजूद शहर दरअसल भूमंडलीकरण के बरक्स लोक का प्रतिरोध है जिसे ज्ञानेन्द्रपति बनारस के माध्यम से दर्ज कर रहे हैं। बनारस यहाँ विकल्प है। बनारस एक शहर नहीं प्रतीक है प्राचीन सभ्यता का, नगर का, क़स्बा का, लोक का, जीवन का। यह सनातन प्रतिपक्ष है। ज्ञानेन्द्रपति बनारस को कविता के लिए चुनते हैं। बनारस बहाना है, वे बनारस के बहाने जो कह रहे हैं वह यह है-

'काशी करवट कि करवत्! कुख्यात
जहाँ कभी
चलते थे आरे मोक्षकामी दुर्मर जरा-जर्जर गरदनों पर
कि अब जिनके सामने ही
दिन-दिनभर बल्कि देर रात तक
चलता रहता वीडियो गेम का कोई मनोहिंसक खेल नन्हीं दुकनिया में
जिसके स्क्रीन के आगे बैठे रहते गुच्छे-के-गुच्छे बच्चे
उदग्रग्रीव व्यग्रमन
काशी-करवट के सामने काशी की नई करवट!
कहना मुश्किल दोनों में कौन ज़्यादा हिंसक ज्यादा भीषण
वृद्ध-वधी अतीत कि बाल-वधी वर्तमान?'

यह अनायास तो बिल्कुल नहीं है कि इक्कीसवीं सदी की दहलीज़ पर प्रकृति और सभ्यता के द्वन्द्वस्थलों को स्थानिकता की ठोस ज़मीन पर वैश्विक हलचलों को भावक-चित्त से नहीं जीवन-बोध से चीन्हते और बेलगाम साम्राज्यवादी पूँजीवाद, भूमंडलीकरण और उदारीकरण के प्रतिरोध को गंगा-तट में दर्ज करने वाला कवि समय के विस्फारित और क्रूर यथार्थ से मुँह मोड़ लेता। गंगा-बीती में वे इस गांगेय-नगर को और गंगा को देखते हैं और गंगू की निगाह से देखते हैं जो अधिक निर्भीक और निष्कंप है।

इन संग्रहों के अतिरिक्त जो उनके अन्य संग्रह हैं यथा 'संशयात्मा' में कलकत्ता और बनारस से सम्बन्धित कविताएँ हैं, मनु को बनाती मनई जो कि प्रेम कविताओं और स्त्री जीवन से सम्बन्धित कविताएँ हैं, उनमें भी बनारस कहीं-कहीं झाँकता है। इनके नए संग्रह 'कविता-भविता' में भी 'राजाराम' अथवा 'पत्रकारिता दिवस' जैसी कविताओं में भी बनारस मौजूद है। वे राजनैतिक होते हुए भी, स्मृतियों में जाते हुए भी, महामारी से जूझते हुए भी उन सभी को दर्ज करते हैं जो दृश्य और स्थानिकता से निकलता है, वे उनमें रहते हुए भी ऊपर होते हैं। कहते हैं जिन्होंने अपने परिवेश को समझ लिया वे अपने परिदृश्य को समझ लेते हैं। ज्ञानेन्द्रपति अपने समय को समझने के लिए कोई लम्बी यात्रा नहीं करते, वे अपने आस-पास को, अपने नगर को देखते हैं और उसी से-उसी में अपनी अभिव्यक्ति को पाते हैं। 'अबके, नागपंचमी में' शीर्षक कविता इस बात को पुष्ट करेगी—

'नाग ले जी! नाग ले लो/ बड़े गुरु का! छोटे गुरु का!/ बड़ा गुरु!? नहीं नहीं!/ वह तो महान वैयाकरण पाणिनि है, आज के दिन/ 'अष्टाध्यायी' का रचयिता!/ और जो छोटा गुरु/ पतंजलि है-- 'महाभाष्य' का कर्ता!/ यहाँ, बनारस के जैतपुरा में/ जो अतिशय प्राचीन नागकूप है--/ दरअस्ल, चारों तरफ़ से उतरती सीढ़ियों वाली एक बावड़ी/ नागकूप विख्यात--/ क़ायम है जिसका महातम/ कहते हैं, जिसके चौकोर जल के नीचे से/ पाताल को जाता एक गुप्त रास्ता है जो पहुँचता सीधे नागलोक...'

समकालीन कविता का बहुलांश अपने आरम्भ से ही नागर-बोध की रही है, यह अनायास नहीं है कि ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में नगर-चित्र बहुलांश में मौजूद हैं, तथापि ये कविताएँ अपनी जनपदीयता को नहीं छोड़तीं जिन्हें हम कई नागर-बोध की कविता समझ रहे होते हैं, वे कविताएँ अपनी जनपदीय चेतना से उसका प्रत्याख्यान रचती हैं तो कई बार अपने नगर-चित्र में एक बड़े विज़न से अपने समय का वैकल्पिक पाठ तैयार करती हैं। बनारस से सम्बन्धित कविताएँ सिर्फ़ बनारस का चित्रण भर नहीं हैं, वे भूमंडलीकरण का प्रत्याख्यान भी हैं, सांस्कृतिक पाठ भी हैं और विस्मृत होते बनारस को सुरक्षित रखने का संग्रहालय भी। ज्ञानेन्द्रपति की रचनाओं का पारस्परिकता का गुणसूत्र मौजूद है, जिससे उनमें एक औपन्यासिक वितान बनता है। उस ख़ास क़िस्म के न्यूक्लियस को तलाशते ही ज्ञानेन्द्रपति की रचनाएँ सम्वादधर्मी हो जाती हैं। उनसे पाठक का साझापन बनने लगता है। फिर तद्भव-तत्सम-देशज शब्दावली प्रचुर कविता, कविता के सौन्दर्य के बढ़ाने के कारक होते हैं, उसमें बाधक नहीं। ज्ञानेन्द्रपति समय से सम्वाद करने वाले और तमाम केन्द्रकों में हाशिए पर रह गई चीज़ों को दर्ज कर एक वैकल्पिक रचनाकार-चिन्तक बन जाते हैं, जहाँ उनकी रचनाएँ सभ्यता-समीक्षा का पाठ निरन्तर तैयार करती हैं। ❑

रोमनी



राहुल सांकृत्यायन

भारत में अब भी बंजारे, मदारी और दूसरे लाखों की संख्या में लोग हैं, जिनका कोई स्थायी निवास नहीं, और अपने मिरकी के घुमन्तू घरों में भी घूमते भालू-बन्दर नचाते, नाच-तमाशा दिखाते या छोटी-मोटी चीज़ों को बेचते अथवा भीख माँगते गुज़ारा करते हैं। सदा एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहना इनका व्रत-सा है। आज इनकी विचरण भूमि केवल भारत है, किन्तु मुस्लिम काल से पूर्व वे भारत की सीमा से बाहर घूमते रहते थे। पिछली 7-8 शताब्दियों में ये लोग सारे यूरोप में फैल गए। वे अपने को रोम-रोमनी कहते हैं, जो वस्तुतः डोम-डोमनी का ही अपभ्रंश है किन्तु दूसरे लोग उन्हें जिप्सी (इंग्लैंड में) या सिगान (रूस में), लूली (ईरान में और मध्य एशिया में) कहते हैं। भारत से बाहर गई यह भारतीय जाति वहाँ भी वही घुमन्तू जीवन बिताती रही। उनकी जीविका के साधन थे नृत्य-गीत, भालू-बन्दर नचाना, हाथ देखना, घोड़े की ख़रीद- बेच तथा कुछ दूसरे छोटे-मोटे चलते-फिरते व्यवसाय। पश्चिमी यूरोप विशेषकर इंग्लैंड में अब घुमन्तू जिप्सी नहीं से रह गए हैं, और अपनी भाषा तो प्रायः सभी ही भूल गए हैं, किन्तु पूर्वी-यूरोप में अब भी उनका यही जीवन रहा है। सोवियत में इन सिगानों की संख्या कई लाख है, जो अधिकतर बस गए हैं।

रोमन नाट्यशाला मास्को में क्रेमलिन से नातिदूर बड़ी सड़क से ज़रा-ही-सा हट कर है। रंग का बाहरी पर्दा हरे या किसी दूसरे रंग के मख़मल का है, जिस पर बहुत से रुपये, सोने के सिक्के टाँके हुए हैं। पर्दे के उठाने-गिराने के समय वे खनखनाते हैं। रोमन नाट्यशाला में रोमनी-लेखकों के लिखे रोमनी-जीवन सम्बन्धी नाटकों के अतिरिक्त पुश्किन तथा कितने ही यूरोपीय ग्रन्थकारों के लिखे नाटक खेले जाते हैं। सोवियत के प्रमुख सूत्रधार और कला-मर्मज्ञ जन्मजात रोमनी तरुण-तरुणियों की शिक्षा-दीक्षा में दिल खोल कर सहायता करते हैं। पात्रों के चुनने और पार्ट सिखलाने में मास्को के प्रसिद्ध कलाकार तथा परामर्श देने में संकोच नहीं करते।

1930-31 के क़रीब रोमनी कलाकारों ने अपने इस जातीय नाट्यशाला की स्थापना की और पहला नाटक, जो खेला गया वह था 'पहियों पर जीवन'। इसमें दिखलाया गया था कि रोमनी कैसा कष्टमय जीवन पहले बिताते थे। क्रान्ति के बाद रोमनी लोगों के लिए भी नगरों में नागरिक पेशे सम्भालने या गाँव में कल-खोज का समान मेम्बर बनाने का रास्ता खुल गया किन्तु जाति का मुखिया, बगेर गिर —जो स्वयं धनी है— जीवन-परिवर्तन को पसन्द नहीं करता। अंत में तरुण रोमन-रोमनी बहुमत से उसकी बात न मान अपने घुमन्तु डेरों को छोड़ जाकर बस जाते हैं।

इसके बाद रोमनी नाट्यकारों के लिखे कितने ही नाटक खेले गए हैं। प्रायः सारे ही दर्शक रूसी भाषा-भाषी होते हैं। इसलिए उनके नाटकों की भाषा रूसी होती है, लेकिन बीच-बीच में कुछ रोमनी भाषा की वाक्यावली भी आ जाती है, और संगीत तथा नृत्य पर तो रोमनी छाप होती ही है। महाकवि पुश्किन की सिगान कविता को ले कर एक अच्छा नाटक लिखा और खेला गया। इसमें एक रोमनी तरुणी जेमफिरा का एक नागरिक तरुण से प्रेम की कहानी है। तरुण अभिनेताओं और अभिनेत्रियों ने अब मास्को के नाट्यकला जगत् में अपना स्थान बना लिया है। ल्याल्या चोरनया के मधुर संगीत और भावपूर्ण नृत्य को देखने के लिए साधारण एवं असाधारण सभी दर्शक उत्सुक रहते हैं।

रोमन-नाट्यशाला के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों से मेरी जो बातचीत हुई, उसने हमें एक-दूसरे के बहुत सन्निकट कर दिया। यद्यपि शताब्दियों से शीत-प्रधान देश में रहने और कितने ही अंश में रक्त-सम्मिश्रण होने के कारण–हमारे ये रोमनी-बन्धु हम से अधिक गोरे हैं, तो भी रूसियों से तुलना करने पर वे साँवले ही मालूम पड़ते हैं। मेरे लड़के ईगर को तो हर एक आदमी रोमनी लड़का समझता है। नाट्यशाला की अभिनेत्रियों में तो वह इतना घुल-मिल गया और वह भी उससे इतना प्रेम करने लगीं कि उसे वहाँ से निकाल कर लाना मुश्किल हो गया। प्रधान अभिनायिका ने अपनी अति सुन्दरी भतीजी अभिनेत्री को दिखलाकर मुझसे कहा— "मैं तो चाहूँगी कि इसका ब्याह किसी इन्दुस् (हिन्दू) से हो, लेकिन वहाँ कौन ऐसा सौभाग्यशाली भारतीय तरुण था जो उससे ब्याह करता।" मैंने उनसे कहा कि एक बार अपनी नाटक-मण्डली को लेकर भारत का पर्यटन करें। लाखों की संख्या में सोवियत में रहने वाले यह हमारे रक्त-सम्बन्धी भारत के बहुत अच्छे सांस्कृतिक दूत हो सकते हैं, यदि वे एक बार इस भूमि को देख जाएँ। ❑

'आजकल' पत्रिका के 1945 से अब तक के सभी उपलब्ध अंक प्रकाशन विभाग की वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़े जा सकते हैं। पुराने अंकों के लिए हमारी वेबसाइट के लिंक पर जाएँ।

लिंक : https://www.publicationsdivision.nic.in/journals/

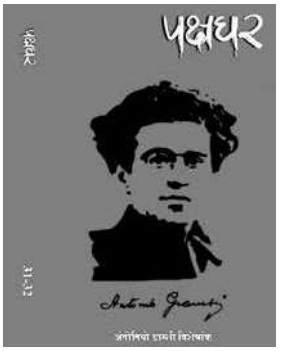
● पत्रिका आजकल

युगीन संवेदना को अभिव्यक्त करती पत्रिकाएँ



राकेश कुमार सिंह

पक्षधर



मार्क्सवादी चिन्तकों में अंतोनियो ग्राम्शी बौद्धिक इतिहास के पृष्ठों पर एक ऐसे अध्याय हैं जिन्हें अस्वीकारना इतिहास के लिए भी असम्भव है। लेनिन के बाद वे सबसे प्रखर चिन्तक के रूप में उभरे। उनका चिन्तन राजनीति दर्शन से लेकर सांस्कृतिक-सामाजिक दर्शन तक इतना व्यापक और सूक्ष्म है कि इस दिशा में वे एक अद्वितीय व्यक्तित्व ठहरते हैं। जहाँ-जहाँ फ़ासीवादी शक्तियाँ अपने क्रूर रूप में प्रसरित हो रही हैं वहाँ-वहाँ मुक्तिकामी आंदोलनों के लिए ग्राम्शी प्रेरणा के आलोक स्तम्भ सिद्ध होंगे। हिन्दी में उनकी चर्चा अपेक्षाकृत कम हुई है। 'पक्षधर' ने उन पर विशेषांक (अंक-31-32) प्रकाशित कर उनकी ओर ध्यान दिलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। ग्राम्शी पर हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी कम लिखा गया है। यह अलग बात है कि इटली को यदि छोड़ दिया जाए तो अंतोनियो ग्राम्शी का सर्वाधिक सृजनात्मक उपयोग भारतीय अकादमिक जगत् में ही हुआ है। भारत में उनके चिन्तन को भीमराव आम्बेडकर से विशेषकर जोड़कर देखा गया है। ('The Political Philosophies of Antonio Gramci and B.R. Ambedkar', Edited by Cosimo Zene) इस सन्दर्भ में उदय कुमार, अनुपम राव, गोपाल गुरू और रणजीत गुहा के लेखन को विशेष रूप से देखा जा सकता है।

'पक्षधर' में प्रकाशित सामग्री इस सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण है कि इसके अधिकांश आलेख मौलिक रूप से हिन्दी में लिखे गए हैं। परिणामतः इससे भारतीय सन्दर्भ स्वाभाविक रूप से आ गए हैं। अनूदित आलेखों में भी एरिक हॉब्सवॉम ('ग्राम्शी') और एजाज़ अहमद ('फ़ासीवाद और राष्ट्रीय संस्कृति') का आलेख भारतीय सन्दर्भ को लेकर महत्वपूर्ण है। एरिक हॉब्सबॉम अपनी व्यापक दृष्टि के कारण हमारा मार्ग प्रशस्त करते दृष्टिगत होते हैं, तो एजाज़ अहमद के आलेख की समस्त अंतर्वस्तु भारतीयता से सन्दर्भित है। ग्राम्शी पर एरिक हॉब्सवॉम का आलेख ग्राम्शी के वैचारिक पक्ष को व्यापकता में समझने की दृष्टि देता है। ग्राम्शी की मान्यता है कि बुर्जुआ वर्चस्व भी स्वचालित अथवा अपने-आप कार्य नहीं करता ; अपितु सचेत राजनैतिक कर्म और संगठन द्वारा उपलब्ध किया जाता है। उनका मानना है कि सत्ता का तन्त्र अपने वर्चस्वकारी और एकाधिकारवादी स्वरूपों में बुद्धिजीवियों के सहकार का परिणाम होता है। वे इन्हें विशिष्ट सामाजिक प्रवर्ग या प्रवर्गों के रूप में नहीं परिभाषित करते, अपितु उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज के प्रकार्यमूलक विशेषज्ञता के रूप में परिभाषित करते हैं। बुद्धिजीवियों की सामाजिक श्रेणी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सामाजिक संगठन, शिक्षण व धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से न केवल वर्चस्व स्थापित करता है, वरन् उसका व्यापक विस्तार करता है। पत्रिका के प्रथम खण्ड में ग्राम्शी पर अनूदित व मौलिक सामग्री है। सम्पादकीय ('सक्रिय दिमाग़ को जेल में भी क़ैद कर निष्क्रिय नहीं किया जा सकता') और अतिथि सम्पादकीय में ग्राम्शी पर गम्भीर चर्चा के उपरान्त मनोज कुमार, संजय कुमार, रवि श्रीवास्तव, गोपाल प्रधान, वैभव सिंह, शुभनीत कौशिक, हिलाल अहमद, विनोद शाही के गम्भीर आलेखों के अतिरिक्त ग्राम्शी के दस महत्वपूर्ण पत्र एवं ग्राम्शी विषयक अध्ययन के लिए ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची भी है।

पत्रिका के दूसरे खण्ड में कात्यायनी की दस कविताएँ व उन पर केन्द्रित सविता सिंह का गम्भीर लेख है। नन्दकिशोर आचार्य का 'गाँधी के साथ होने के मायने' शीर्षक व्याख्यान और बसंत त्रिपाठी की लम्बी कविता ('शौर्यगान बरख़िलाफ़ सहगान') भी इसी खण्ड में प्रकाशित है। रोहिणी अग्रवाल, सुरेश कुमार के लेख के अतिरिक्त महेश वर्मा, लीना मल्होत्रा (कविताएँ), उस्मान ख़ान ('इट्स अर्जेन्ट' उपन्यास अंश), राकेश दूबे ('चन्दू भाई ज़िन्दा हैं', कहानी), हर्षबाला शर्मा ('माइग्रेट मज़दूर की बीवी और सपनों पर ब्रेक', कहानी), मधु काँकरिया ('यहाँ भी वहाँ भी': ढाका डायरी) आदि इसी खण्ड की महत्वपूर्ण सामग्रियाँ हैं। अंत में पी. रवि, अजय वर्मा, पीयूष कुमार की रामायन राम कृत पुस्तक समीक्षा है। इस अंक के प्रकाशन से अंतोनियो ग्राम्शी की रचनाओं को समझने में सहायता मिलेगी, लोगों में ग्राम्शी के प्रति अभिरुचि जागेगी।

परिकथा



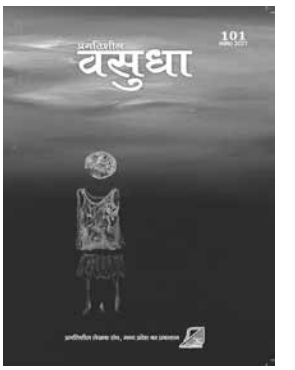
'परिकथा' ने अपनी यात्रा के 99 पड़ाव पार कर लिए हैं और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इस यात्रा में इसने न तो मूल्यों के साथ कोई समझौता किया और न ही गुणवत्ता के साथ ही। इस द्विमासिक पत्रिका ने कई युवा रचनाकारों को प्रकाश में लाने का कार्य किया है, ऐसे युवा लेखक जिनके पास युगीन

सम्पर्क : ई-मेल : sabadniranter@gmail.com

संवेदना की शक्ति के साथ-साथ उसे व्यक्त करने के लिए नई भाषा, नए मुहावरे और नया शिल्प है। यह भी विदित तथ्य है कि ज्ञानरंजन, शम्भुनाथ और शंकर ने लघु पत्रिका आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अपने संकल्प को मूर्त्त रूप देने के प्रयास को 'परिकथा' की दीर्घ यात्रा रेखांकित करती है। शम्भुनाथ के शब्दों में 'लघु पत्रिकाएँ चुनौती खड़ी करती हैं, इसलिए उनके साथ भी चुनौती है, सकारात्मक तथ्य यह है कि कई लघु पत्रिकाओं ने इसका साहस के साथ सामना किया है। उन पत्रिकाओं में 'पहल' और 'परिकथा' का नाम महत्वपूर्ण है। 'पहल' 125 अंक के साथ बन्द हो गई, किन्तु 'परिकथा' अभी भी अपने पथ पर अग्रसर है। इस अंक में अपने 'सम्पादकीय' में शंकर ने देश के बिगड़ते सामाजिक सौहार्द पर क्षोभ प्रकट किया है। क्षरित होते न्यायिक मूल्यों को देखते हुए सामाजिक अशान्ति की सम्भावनाएँ और तीव्र होती जा रही हैं। 'पत्रिका में गहराते सामाजिक-आर्थिक संकटों पर गम्भीरता से विचार किया गया है। इस दृष्टि से युवा आलोचक अरुण कुमार के आलेख में, जो इस पत्रिका में पहला आलेख है, गम्भीरता से विचार किया गया। 'भारत गाँवों का देश है' इस प्रचलित कथन की निस्सारता को प्रकट करते हुए अरुण कुमार ने हिन्दी साहित्य में व्यक्त किसानों की शोचनीय जीवन-परिस्थितियों का विश्लेषण किया है। जगदीश चन्द्र, नर्मदेश्वर, विद्यासागर नौटियाल, शिव किशोर, सुल्तान अहमद आदि ने किसान चेतना से सम्बन्धित रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य के पाट को विस्तार दिया है। इस आलेख में कुँवर नारायण और सुबोध कुमार श्रीवास्तव की रचनाओं पर भी विचार किया गया है। एक ओर आज़ादी का अमृत महोत्सव और दूसरी ओर किसानों की त्रासद स्थितियाँ आलेख के शीर्षक को चरितार्थ करती हैं। 'सफ़ेदपोश अपराध और समाज' शीर्षक आलेख में ब्रज कुमार पाण्डेय ने वर्तमान भारतीय समाज में फल-फूल रहे श्वेत वसन अपराध' का विश्लेषण किया है जिसकी ज़द में कई अकादमिक संस्थाएँ, प्रतिष्ठित राजनेता व बड़े-बड़े उद्योगपति आ गए हैं। ऐसे आलेख आवश्यक बहस को जन्म देते हैं। अशोक शाह का 'पूर्वोत्तर डायरी' भी इस अंक का एक आकर्षण है जिसमें एक उपेक्षित भू-भाग की यात्रा का जीवन्त-वर्णन है।

लोक बाबू का 'बस्तर बस्तर' उपन्यास बहुचर्चित रहा है। रमाकान्त श्रीवास्तव ने 'टपका साले को, मुख़बिर है साला' शीर्षक से इसकी गंभीर समीक्षा की है। इसी प्रकार वीरभारत तलवार की पुस्तक 'झारखण्ड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टिविस्ट के नोट्स' की उपयोगिता पर कुमारी उर्वशी ने प्रकाश डाला है। जनसत्ता' के संपादन से जुड़े सूर्यनाथ सिंह का नाम गंभीर लेखन के लिए जाना जाता है। उन्होंने '21वीं सदी की कहानियाँ, कहानी का बदलता केन्द्र' शीर्षक से हिन्दी कहानी के बदलते स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया है। प्रख्यात् कथाकार और कथा-विशेषज्ञ हरियश राय ने जाबिर हुसैन की कथा-डायरियों के वैशिष्ट्य पर विचार किया है। 'कहानी की गतिशीलता' के तहत तरसेम गुजराल ने इधर की प्रकाशित कहानियों पर विचार किया है। सूरज पालीवाल का 'सूर्यनगरी जोधपुर : अपनायत से दमकता लोक' और रुचि भल्ला का 'शीलानामा' (डायरी) भी इस अंक के आकर्षण बिन्दु हैं। विनोद दास, लाल्टू, तरसेम गुजराल और शिवेन्दु श्रीवास्तव की कहानियाँ संवेदना के पाट को विस्तार देती हैं। इसी प्रकार पुस्तकों पर केन्द्रित रजत कृष्ण, स्मृति शुक्ल, अरुण होता, गोबिन्द प्रसाद आदि की सामग्री विशेष उल्लेखनीय है। 'घर' (राकेशरेणु), मेरा घर (केवल गोस्वामी), 'मेरे भीतर' (स्वप्निल श्रीवास्तव), 'नसीहत' (गौरव भारती) और अदातल तले 'अँधेरा' (तृषन्निता) आदि कविताएँ इस अंक की उपलब्धि हैं। 'घर' के साथ जुड़ी संवेदनाओं को कवि ने व्यापक सन्दर्भों में देखा है। इसी प्रकार केवल गोस्वामी ने मन में बसी घर की वास्तविक पहचान तलाशने की चेष्टा की है जो विकास के नाम पर आपाधापी में कहीं खो गया है। स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता 'मेरे भीतर' में सकारात्मक सम्भावनाओं की सुखद अभिव्यक्ति है। नए कवियों की कविताओं में गौरव भारती की कविता आकर्षित करती हैं— 'बहुत जल्दी/कहीं पहुँचने की इच्छा/मत रखो/जहाँ भी जाओ/समय लेकर जाओ'। कुल मिलाकर यह अंक अत्यन्त संग्रहणीय है।

प्रगतिशील वसुधा

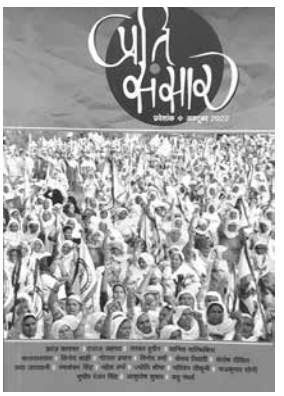


एक अंतराल के बाद 'प्रगतिशील वसुधा' का अंक-101 (नवम्बर 2021) अपनी विपुल सामग्री के साथ उपस्थित हुआ है। सम्पादकीय के बाद विश्वविख्यात पत्रकार सईद नक़वी का साक्षात्कार प्रकाशित है जो अफ़ग़ानिस्तान के अतीत, वर्तमान एवं भावी स्थितियों पर ही केवल टिप्पणियाँ नहीं हैं, उनकी ज़द में मिस्र, अमरीका, पाकिस्तान, ईराक़, ईरान आदि दुनिया के कई देश सन्दर्भित हैं। उनका यह साक्षात्कार जो 'जोशी अधिकारी इंस्टिट्यूट ऑफ़ सोशल स्टडीज़' में दिए गए व्याख्यान का किंचित सम्पादित रूप है, इस अंक की एक उपलब्धि है। अहमद करीम ने आनन्द पटवर्धन की विचार यात्रा पर प्रामाणिक ढंग से विचार किया है। पटर्वधनजी ने 1970 के आस-पास अमरीका के 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन से जुड़ाव व भारत लौटने पर 'किशोर भारती' (पिपरिया, होशंगाबाद, म.प्र.) में कार्य किया। इस संगठन को ग्रामीण शिक्षा के अभिनव प्रयोग के रूप में अनिल सद्गोपाल ने शुरू किया था। इन संगठनों से जुड़ाव उनके राजनैतिक व सामाजिक प्रशिक्षण का प्रारम्भिक दौर था। सरकार आंदोलन के कई सक्रिय लोगों को जेल भेज चुकी थी। ऐसे में भूमिगत रहकर ही आनन्द कुछ फ़िल्म शोज़ कर पाए। बाद में कनाडा जाने के बाद उन्होंने भारत के बाहर उत्तरी अमरीका और यूरोप के अनेक देशों के अनेक विश्वविद्यालयों के नौजवानों को भेजा कि भारत में लोकतन्त्र की जान ख़तरे में है। 'उना मितराँ दी याद' में ख़ालिस्तानी आंदोलन और बाद में हुए सिख नरसंहार को अंकित किया।

'राम के नाम' (1992) और 'पिता, पुत्र और धर्मयुद्ध' उसी शृंखला की अगली कड़ी थी। इसी प्रकार सन् 2012 में 'जय भीम कॉमरेड' फ़िल्म बनाई। लगभग तीन घण्टे की इस फ़िल्म को बनाने में उन्हें 14 वर्ष लगे। यह फ़िल्म भारतीय सामाजिक संरचना में जाति के संश्लिष्ट प्रश्न को व्यापक परिदृश्य में देखती है। कुल मिलाकर यह आलेख आनन्द पटवर्धन की फ़िल्म एवं विवेक यात्रा को समझने की कुंजी है। प्रख्यात कवि कुमार अम्बुज ने 'रेडिंग जेल कथा' (ऑस्कर वाइल्ड की प्रसिद्ध कविता) का सुन्दर अनुवाद किया है। यह अनुवाद इतना प्रभावशाली है कि इसे अनुवाद न कहकर अनुसृजन कहना अधिक उचित होगा। इसी तरह की कविता का अनुवाद अजित हर्षे ने किया है। 'हरमन हैसे और उनके प्रकाशक' (जयप्रकाश सावंत, अनुवाद :

सुनीता डागा) नामक आलेख हिन्दी के कृष्णा सोबती विवाद की याद दिलाता है। पंजाबी के प्रसिद्ध कवि सुखदेव सिंह सिरसा ने 19वीं सदी की विद्रोही शायरा पीरो का मर्मस्पर्शी विश्लेषण किया है। इसका अनुवाद किया है प्रसिद्ध लेखक तरसेम गुजराल ने। उड़िया की प्रसिद्ध कवयित्री स्वप्ना मिश्रा (अनुवाद : राधू मिश्र) की कविताएँ भी इस अंक को समृद्ध बनाती हैं। आशीष त्रिपाठी, अरुण कमल, फ़रहत रिज़वी, सत्यनारायण आदि के आलेखों के अतिरिक्त शुभा, अनुज लुगुन, विहाग वैभव, हरिओम राजोरिया, प्रकाशन चन्द्रायना व पीयूष पाण्ड्या की कविताएँ भी मन पर गम्भीर छाप छोड़ती हैं। यह सामान्य अंक होने के बावजूद मन पर असामान्य प्रभाव डालता है। यह एक संग्रहणीय अंक बन पड़ा है।

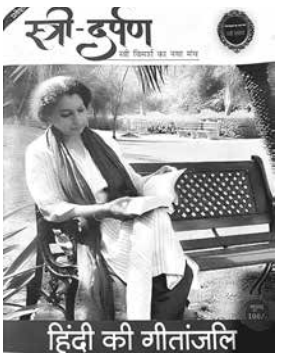
प्रति संसार



वर्तमान की चुनौतियों से पलायन कर, राजसत्ता की क्रूरता में सहयोगी-सहभागी बनकर निजी जीवन के लिए कुछ सुविधाएँ भले ही प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु व्यक्ति और समाज का स्थायी हित उनके प्रतिरोध से ही सम्भव है। अक्तूबर 2022 में प्रकाशित यह अंक यद्यपि पत्रिका का प्रवेशांक है, लेकिन इसकी विपुल सामग्री, आलेखों के चयन के विवेक और सम्पादकीय दृष्टि को देखते हुए यह अविश्वसनीय लगता है कि यह किसी पत्रिका का प्रथम अंक है। एक संसार जो सबके सामने है और जिसमें छल-छद्म, क्रूरता, शोषण, अन्याय, अविवेक है तथा दूसरा संसार वह जिसमें इन निकृष्टताओं को दूर करने का संकल्प तो है ही, संकल्प के साथ आपसी सद्भाव, मानवीयता, शोषण का प्रतिरोध, न्यायिक मूल्य व सामाजिक हित में अपना हित समझने की विवेक-शक्ति भी है। सम्पादक ने 'अपनी केवल धार' (सम्पादकीय) में ठीक ही लिखा है कि ''विचार नहीं होती हैं मूर्तियाँ। विचार का प्रतीक होती हैं। प्रतीक के बनने-टूटने से विचार नहीं बनता-टूटता। पत्रिका में आलोचनात्मक आलेखों के साथ-साथ कविता, कहानी, संस्मरण और फ़िल्म समीक्षा भी है। रचनाओं के चयन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि वरिष्ठ रचनाकारों के महत्वपूर्ण लेखन के साथ-साथ नवोदित, किन्तु वैचारिक रूप से सशक्त रचनाकारों को भी समुचित स्थान दिया जाए।

किसी पत्रिका से यह स्वाभाविक अपेक्षा है कि अपने समय के ऊर्जावान नए रचनाकारों से लोगों को जोड़े। 'प्रति संसार' ने अपने इस दायित्व का समुचित निर्वाह किया है। हिन्दी की मौलिक सामग्री के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं व अंग्रेज़ी से अनूदित रचनाएँ भी इसमें शामिल हैं। अनूदित रचनाओं में 'पवित्रन तीकूनी' (अनुवाद : संतोष एलेक्स) व 'गायिका जोसफीन उर्फ़ चूहा लोग' (कहानी, अनुवादक : आनन्द बहादुर) प्रभावशाली रचना है। केशव तिवारी, विनोद वर्मा, महेश वर्मा, ज्योति शोभा, वसु गन्धर्व, सुधीर रंजन सिंह की कविताओं के अतिरिक्त सत्यनारायण के गीत इस अंक में प्रकाशित हैं। 'रात के मेहमान' (कहानी) भी महत्वपूर्ण छाप छोड़ने वाली कहानी है। एजाज़ अहमद के आलेख (The New Imperial Challenge, 2004, The social Register में प्रकाशित) 'हमारे दौर का साम्राज्यवाद' का पंचमांश का प्रकाशन इस अंक का वैचारिक आकर्षण है। 'सन्नाटे का प्रेत' (यानिस वारिफकिस, अनुवाद : अम्बरीश त्रिपाठी) 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' की भूमिका का अनुवाद इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि मार्क्स के जन्म के 200 वर्ष बाद उनके विचारों के बारे में आज के विचारकों के दृष्टिकोण में किस प्रकार का परिवर्तन आया है। यह भूमिका इस तथ्य को सूक्ष्मता से निरूपित करती है। चिन्तकों की नई पीढ़ी को केन्द्र में रखने वाला गोपाल प्रधान का आलेख भी हमें वैचारिक ऊर्जा से सिक्त करता है। विनोद शाही ने अपने आलेख में भारतीय यथार्थवाद के सन्दर्भ में वामपन्थी और दक्षिणपन्थी अंतर्संवाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। जया जादवानी के संस्मरण व रमाशंकर सिंह तथा आशुतोष शुक्ल के आलेख भी महत्वपूर्ण हैं।

स्त्री-दर्पण



'स्त्री दर्पण' का प्रकाशन जून, 1909 ई. में रामेश्वरी नेहरू के सम्पादन में हुआ था जो लगभग 1929 ई. तक प्रकाशित होता रहा। स्त्रियों की दशा के सुधार में इस पत्रिका की भूमिका तो थी ही, राष्ट्रीय आंदोलन में भी इस पत्रिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही। रामेश्वरी नेहरू पं. जवाहर लाल नेहरू के चचेरे भाई की पत्नी थीं। अरविन्द कुमार और सविता सिंह के सम्पादन में उसी की प्रेरणा से उसी नाम से (स्त्री-दर्पण) प्रवेशांक आया है। इसमें मुख्यतः 'स्त्री' पर केन्द्रित आलेख ही हैं। पत्रिका में प्रकाशित रचनाएँ जीवन की व्यापकता को स्पर्श करती हैं। कविता, संस्मरण, राजनीति, सामाजिक प्रश्न व मनोविज्ञान आदि से सम्बद्ध आलेख वैचारिक ऊर्जा प्रदान करते हैं। अणु शक्ति सिंह ('बीच बहस में') प्रगति सक्सेना ('बीच बहस में': आर्गेज़्म), जवरीमल पारख ('सत्यजीत रॉय का सिनेमा और स्त्री-चरित्र'), सरित शैल ('मुम्बई की झोपड़ी से निकलकर कैलिफ़ोर्निया तक'), चन्द्रकिरण राठी ('बापू ने सत्याग्रह बा से सीखा था'), सुजाता का आलेख ('क्या करूँ कि जाता हुआ वह आता-सा दिखे, 'खोई चीज़ों का शोक की समीक्षा') विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। निश्चय ही हिन्दी के लिए यह स्वागत योग्य कदम है।

सेतु



अपने सीमित साधनों में जिन पत्रिकाओं ने हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा की है उनमें 'सेतु' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। साहित्य-संस्कृति और कला को समर्पित पत्रिका ने इससे पूर्व भी कई ऐसे अंक प्रकाशित किए हैं। यह पत्रिका उन विषयों या लेखकों को भी दृष्टिपथ में रखती है जिन्होंने जीवन-जगत को बेहतर बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, किन्तु आज की आपाधापी ने उन्हें परिदृश्य से ओझल कर दिया है। इस अंक में मोहन कृष्ण बोहरा द्वारा पं. बनारसीदास चतुर्वेदी का स्मरण व विश्लेषण इसी प्रकार का अनुष्ठान

है। विनोद शाही, गीताश्री, गंगाराम राजी और दीप्ति सारस्वत 'प्रतिमा' की कहानियाँ विशेष छाप छोड़ती हैं। कविताओं में भरत प्रसाद और रेखा वशिष्ठ की कविताएँ विशेष आकर्षित करती हैं। 'बाल साहित्य' के लेखन पर तो सामान्यतः बल दिया जाता है, किन्तु उसका महत्व, विश्लेषण व आलोचना का पक्ष लगभग रिक्त-सा है। इस दृष्टि से पवन चौहान का आलेख महत्वपूर्ण है। हिन्दी आलोचना के शीर्ष स्मृति शेष नामवर सिंह का व्याख्यान प्रकाशित कर सम्पादक ने अपनी सम्पादकीय दृष्टि का परिचय दिया है। कविता, कहानी व अनुवाद के अतिरिक्त पुस्तक समीक्षा का स्तम्भ हमें नई व महत्वपूर्ण कृतियों से परिचित करता है। प्रख्यात कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह का सम्पादक के साथ साक्षात्कार भी इस अंक की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है।

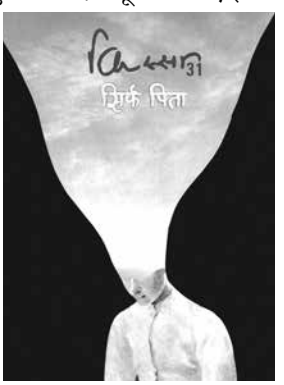
बनास जन



अपने पुराने अंकों की तरह 'बनास जन' (जून-जुलाई-2022, अंक-56) अंक भी समृद्ध है। भीमसेन जोशी पर मृणाल पाण्डे का आलेख हमें विशेष आकर्षित करता है। अष्टभुजा शुक्ल, जीवन सिंह, विष्णु नागर, नवीन जोशी और सेवाराम त्रिपाठी का लेख भी इस अंक का आकर्षण है। इस अंक में कहानियाँ व कविताएँ भी अपनी नई भावभूमि एवं संवेदनात्मक ऊर्जा के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। पत्रिका में इन रचनाकारों पर महत्वपूर्ण आलोचकीय आलेख भी द्रष्टव्य हैं। अंत में कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षा है। कुल मिलाकर यह अंक पठनीय है।

किस्सा

'किस्सा' का अंक-31 (मई-जून-जुलाई-2022) पिता पर केन्द्रित है। यद्यपि 'पिता' केन्द्रित ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण रचनाएँ इसमें आने से वंचित रह गई हैं। शायद इसका एक कारण यह भी हो कि पूर्व प्रकाशित रचनाओं के प्रकाशन से सम्पादिका बचना चाहती हों और उनका ध्यान समकालीन सन्दर्भ में 'पिता' से सम्बन्धित हो, फिर भी ऐसे कई रचनाकार हैं जिन्होंने 'पिता' को लेकर महत्वपूर्ण लिखा है और उनसे 'पिता' केन्द्रित रचना के लिए अनुरोध किया जा सकता था। बावजूद इसके यह अंक महत्वपूर्ण है। मन्नू भण्डारी का पिता केन्द्रित संस्मरण 'पितृसत्ता' के उस पक्ष को रेखांकित करता है जिसमें 'प्राप्य' पुरुष के खाते में जाता है और 'देय' स्त्री की होती है। विडम्बना यह है कि उस 'देय' को भी 'पितृसत्ता' स्वीकारता नहीं। यह सामान्य पुरुष से लेकर लेखक, राजनेता, समाजसेवी सबका सत्य सम्भव है। सुधा अरोड़ा, पुष्पा भारती, अग्निशेखर, सुदर्शना द्विवेदी के संस्मरण विशेष पठनीय हैं। कहानियों में महेश दर्पण, शिव कुमार 'शिव', गीताश्री आदि की कहानियाँ 'पिता' विषयक भावनात्मक पाट को विस्तार देती हैं। निर्मला जोशी, रामकुमार कृषक, ध्रुव गुप्त की कविताएँ इस अंक की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। आज जब समाज के रागात्मक सम्बन्ध धीरे-धीरे ग़ायब हो रहे हैं, परिवार की अवधारणा बदल रही है और व्यक्तिवादी आग्रह प्रबल हो रहा है। ऐसे में 'पिता' पर किसी पत्रिका का विशेषांक आना इस बात के लिए आश्वस्त करता है कि अभी भी समाज में ऐसे लोग सक्रिय हैं जो क्षरित होते संवेदनात्मक मूल्यों के अनुरक्षण में संलग्न हैं।



शीतल वाणी



'शीतल वाणी' का 'जनवरी-जून' अंक कथाकार व सम्पादक बलराम पर केन्द्रित है। अंक संग्रहणीय है, किन्तु आवरण पृष्ठ पर लिखा 'कथेतर गद्य शिल्पी बलराम अंक' तनिक विस्मय में डाल देता है। कारण कि इस अंक में बलराम की कहानियाँ भी हैं, उपन्यास अंश भी हैं और उनके कथा-व्यक्तित्व को विश्लेषित करने वाले सर्वाधिक आलेख भी हैं। यही नहीं स्वयं बलराम की साहित्यिक स्वीकृति कथाकार के रूप में ही अधिक है। 'शीतल वाणी' ने इसके पूर्व भी कई लेखकों पर विशेषांक निकाला है, किन्तु यह अन्य अंकों की अपेक्षा अधिक सशक्त और व्यवस्थित है। इसमें प्रारम्भ में बलराम की कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं जिससे कथाकार बलराम के लेखकीय व्यक्तित्व का अनुमान करना आसान हो जाता है। फिर संस्मरण शामिल किए गए हैं जो समकालीन कथा व कथेतर लेखन के परिवेश को समझने में सहायता प्रदान करते हैं। इन संस्मरणों से युगीन कथा-साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लेखकों के अपने ताने-बाने, साहित्य-जगत की राजनीति-रणनीति आदि सब कुछ स्पष्ट होता है। यह भी ध्यातव्य है कि बलराम ने कथेत्तर गद्य भी पर्याप्त लिखा है- गुणवत्ता और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से।

इस अंक में प्रकाशित सभी संस्मरण महत्वपूर्ण हैं किन्तु 'देके अश्क आँख में शख़्स जो चले गए' (जैनेन्द्र पर), 'मित्रजीवी और उत्सव-प्रेमी कमलेश्वर' (कमलेश्वर पर) और 'हिन्दी के दो हीरे अनमोल' (प्रभाकर श्रोत्रिय व मनोहर श्याम जोशी पर) संस्मरण बहुत सुन्दर हैं। उनके कथाकार व्यक्तित्व पर से.रा. यात्री, विश्वनाथ त्रिपाठी, श्रीराम तिवारी, महेश दर्पण, सूर्यकान्त नागर, रूप सिंह चन्देल, तरसेम गुजराल, सूरज पालीवाल, सुभाष राय, ज्योतिष जोशी, शिवनारायण के आलेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। बलराम की कहानियों में ग्रामीण संवेदना का विस्तार है। बलराम अपनी कहानियों में युगीन विसंगतियों का प्रामाणिक चित्रण करते हैं। श्रीराम तिवारी के शब्दों में, बलराम का गाँव अपनी कलात्मक सहजता के साथ हिन्दी कथा का नया विस्तार है। हम प्रेमचन्द के गाँव से निकलकर रेणु के गाँव होते हुए आज बलराम के गाँव में आ पहुँचे हैं। इनकी कहानियाँ उन्हीं अणुओं-परमाणुओं से निर्मित हैं। बलराम जैसा मौलिक गाँव आज के किसी भी कथाकार के पास नहीं है। गाँव तो था ही, एक इतिहास समय भी चल रहा था, लेकिन कथा में कृषि के रूप में इतिहास दृष्टि के साथ ऐसा गाँव पहले नहीं आया था। बलराम का गाँव अब सबका गाँव हो गया है। बलराम उन लेखकों में नहीं हैं जो अपनी मौलिकता के उद्घोष में किसी के अवदान को अस्वीकार कर दें। 'शीतलवाणी' ने इन पर अंक निकालकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। ❑

● मूल्यांकन-एक

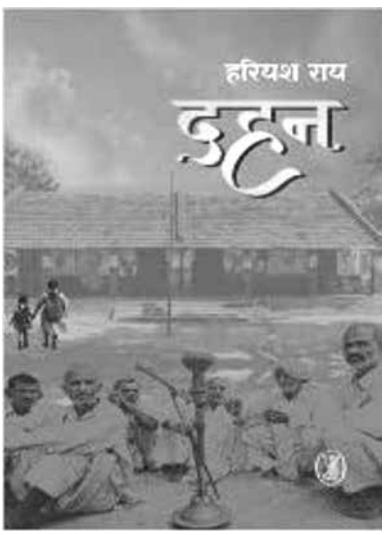


मानवीय संवेदनाओं का हस्तक्षेप

चन्द्रकला

ज़िन्दगी की लड़ाई एक व्यक्ति कितने स्तरों पर लड़ता है तो इसका कोई फ़ार्मूलाबद्ध जवाब नहीं मिलेगा, है भी नहीं और कहें तो हो भी नहीं सकता। उसमें भी एक स्त्री, वह भी कामकाजी हो, घर-बाहर के कई मोर्चों को एक-साथ सम्भाले हुए अपने अस्तित्व को भी बचाए रखने के लिए संघर्ष करती है। हम बात कर रहे हैं, हरियश राय के हाल ही में प्रकाशित उपन्यास 'दहन' की। उपन्यास एक लम्बी कहानी की तरह बिना साँस लिए पढ़े जाने के बाद ही हाथ से छूटता है। जैसे एक ऐसी लम्बी सुरंग में घुस गए हों जहाँ दम घुटने पर भी वापस मुड़ सकने की जगह नहीं है।

उपन्यास की केन्द्रीय धुरी उपन्यास की नायिका सौम्या है जिसके इर्द-गिर्द उपन्यास का कथानक है। उपन्यास की कथा भी सौम्या की ज़िन्दगी के पेण्डुलम की तरह कई स्तरों पर गाँव, महानगर और उसमें भी स्कूल व उसके रिश्तों के बीच ज़्यादा झूलती है। उपन्यास में गाँवों का क़स्बों में बदलना, क़स्बों का महानगरों की नक़ल करना और इनके बीच राजनेताओं, माफ़ियाओं और कुछ धार्मिक कर्मकाण्डों की ओट में अपनी गोटियाँ फ़िट करते छुटभैयों की करतूतों, गाँववालों की स्कूल की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने के नए हथकंडों को विस्तार से जगह मिली है जो आपको हर जगह नए नाम व पहचान के साथ मिल जाएँगे। अलग-अलग वेश में घर और बाहर अपनी सुविधानुसार। कहीं प्रेम की मीठी ज़ुबान में धार दिए "हो तो सकता है और फिर स्कूल तो हमारे बाप-दादाओं की ज़मीन पर ही बना है।" इसलिए स्कूल को तबेला बनाने में कोई हिचक नहीं। तो कहीं धमकी की कड़क आवाज़। कुछ इनसे भी भिन्न हैं सिर्फ़ आपके होने को ही अपनी बात मनवाने का हथियार बनाए हुए। "अब आप हमें न बताएँ कि क्या संकीर्णता है और क्या उदारता जो कहा जा रहा है, वह करें।" यह शिक्षा अधिकारी का कथन है जिसे बस ऊपर के आदेश को पूरा करवाना ही आता है। उसके लागू होने में क्या समस्याएँ हैं, इससे उसको कुछ मतलब नहीं। किसी और के न बोलने पर भी सौम्या की लड़ाई इन सभी मोर्चों पर एक साथ चलती है। घर से बाहर तक।



सौम्या कायस्थ परिवार की है। उसने ब्राह्मण परिवार के भास्कर त्रिवेदी से प्रेम-विवाह किया जिसमें भास्कर की ख़ुशी के लिए उसका परिवार शामिल तो होता है, इस प्रेम विवाह की सज़ा सौम्या को मिलती है, जिससे वह भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती है। अपनों की बेरुख़ी मीठे ज़हर की तरह धीरे-धीरे असर करते, उसके स्वभाव को ही रूखा-कड़वा बना देती है। मीठा ज़हर उसका पति भास्कर है जो अपनी उपेक्षा या कहें पत्नी के उसके परिवार के रंग में न रंगने से एक क्षोभ के रूप में मौन व तिरस्कार का बाना धारण करके भीतर-भीतर सौम्या से बदला लेने का काम करता है। वह कहता है, "अपने स्वाभिमान को लेकर चलोगी तो आए दिन रास्ते में छोटी-छोटी लड़ाइयाँ मिलेंगी। ख़त्म हो जाओगी उन लड़ाइयों से लड़ते-लड़ते। इस घर के रीति-रिवाजों को चुनौती देने के बजाय, उनसे तालमेल बिठाना सीखो।"

भास्कर की यही बातें सौम्या के मन की कड़वाहट की गाँठ पर गाँठ लगाती चली जाती हैं जिसको न भास्कर खोलने का प्रयास करता है, न ही वह उसे ढीला होने देती है। "सौम्या और भास्कर के पति-पत्नी के रिश्ते में घुन लग चुका था। अंदर-ही-अंदर यह रिश्ता खोखला हो चुका था। केवल बाहरी दुनिया को दिखाने के रिश्ता था।" इस तरह के अधिकांश कथन दोनों की स्वीकारोक्ति में प्रत्येक घटना के घटने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप सामने आते हैं। कहीं भी दोनों एक बात पर आपसी सहमति से कुछ भी सुलझाते हुए दिखाई नहीं देते हैं। हर वक़्त एक तनातनी पर ही बात ख़त्म होती है। सौम्या को भी लगातार यही शिकायत है कि उसका पति अपने पिता के चंगुल में पूरी तरह फँस गया है, जिसके लिए वह उससे छिप-छिपकर उनका साथ देता है। जो काम सौम्या खुलकर उसके सामने करती है वही उसे पसन्द नहीं है, यह सोचकर वह उसके पीठ पीछे करता है जिसकी कैफ़ियत भी वह उससे माँगती है। इससे काफ़ी सारे साक्ष्य सौम्या के भी विपरीत जाते हैं। जैसे वह अपने मायके लगभग रोज़ ही जाती है। समस्या अलग-अलग होती है लेकिन कभी भी भास्कर के बार-बार पूछने पर भी उसे पूरी बात नहीं बताती है जिसके कारण अब वह भी उसके साथ वही व्यवहार अपनाता है। सौम्या भी इसे अपने अपमान, अनदेखी या तिरस्कार से जोड़ती जाती है।

सौम्या अपने माँ-पिता के लिए अपनी जवाबदेही मानती है, मजबूरी में ही सही, तब वह भास्कर से उनके जुड़ाव को इतनी एकतरफ़ा

सम्पर्क : ई-मेल : drchanderkala.singh@gmail.com

निगाह से क्यों देखती है? हद दर्जे की नफ़रत तक, इसलिए कि जो भी उसके मन के विपरीत है, उसका विरोध करना ही है, क्या वह भी किसी के कहने या आपत्ति मात्र पर इतनी जल्दी बदला जा सकता है, इसको लेकर किसी दुराग्रह से नहीं आपसी पहल से सुलझाया जा सकता है, ऐसी कोई कोशिश किसी पक्ष में दिखाई नहीं देती है। साथ ही सौम्या की यही एकांगी सोच, उनके घर में होने वाले प्रत्येक कर्मकांडों को उनके पिछड़ेपन से जोड़कर देखना, उनके आपसी मन-मुटाव व अलगाव का एक महत्वपूर्ण कारण बनती है। जहाँ वह उनके साथ बैठकर उसकी तार्किकता पर उसी तरह बात करने का बिल्कुल भी प्रयास नहीं करती है, जितना वह अपने स्टाफ़ के साथ खुलकर बोलती है। क्यों यह मान कर चलती है कि उसकी बात उन्हें नहीं समझ में आएगी, यह पूर्वाग्रह भी भास्कर के साथ उसके सम्बन्धों में तिक्तता का एक प्रमुख कारण बनता है।

यह आज की पीढ़ी की वह समस्या है जिसमें वह हस्तक्षेप तो बड़े ज़ोर-शोर से करता है, दूसरों के बदलने पर ही सारी समस्या का हल चाहता है, लेकिन अपनी तरफ़ से उससे कट कर रहने या ख़ुद से पहल नहीं करने में ही उसे अपनी प्रगतिशीलता दिखाई देती है। जिस भास्कर से सौम्या का प्रगाढ़ परिचय और फिर विवाह हुआ, शादी के बाद उससे उसका विवाद उसके विपरीत व्यवहार व आचरण करने वाले व्यक्ति के रूप में ही दिखाई देता है जिसको न परखने का पछतावा सौम्या को अंत तक सालता है।

जितना वह पूजा व धर्म-कर्म के पाखण्ड से नफ़रत करती है, उतना ही वह उसके ससुराल की दैनंदिनी का अनिवार्य हिस्सा है जिसे उसके पति ने शादी से पहले उससे छिपाया था जिसके कारण पति से लगातार बहस, उनके क्रिया-कलाप से लगातार अनुपस्थित रहने की एवज़ में पारिवारिक कलह से सास, ससुर और पति से उसकी दूरी तो बढ़ती ही है, उसका तनाव तब और बढ़ जाता है जब उसे स्कूल में उसी माहौल को झेलना पड़ता है जहाँ सभी स्टाफ़ व प्रिंसिपल बच्चों में एक संस्कार के रूप में हवन और प्रार्थना की अनिवार्यता को मान लेते हैं। तमाम बहस के बाद भी उन दोनों के तर्कों को दरकिनार कर दिया जाता है। तो उनकी समझ में नहीं आता कि इसके आगे क्या? ये सब कहाँ जाकर रुकेगा। "सौम्या की समझ में यह बात नहीं बैठ रही थी कि स्कूल के प्रांगण में हवन करवाया जाए।"

तीसरा मोर्चा उसे अपने मायके का भी सम्भालना पड़ता है। उसके माता-पिता जो उसकी ज़िम्मेदारियों और मजबूरियों को अच्छे से जानते हुए भी पूरी तरह से उस पर निर्भर हैं, हर तरह से उसकी सहूलियत को दरकिनार करते हुए। यह स्थिति भी उसके व भास्कर के बीच एक कड़वाहट की हद तक फैली हुई है क्योंकि उन लोगों का हर बात पर उसे ही टेरना खुद उसे भी पसन्द नहीं जिसके कारण वह उससे कुछ साझा नहीं कर पाती है। "कहाँ फँस गई। एक तरफ़ स्कूल और दूसरी तरफ़ भास्कर और उसका परिवार, एक तरफ़ उसकी बेटियाँ ईशा और इला और दूसरी तरफ़ उसके अपने माँ-बाप। कितने पाटों के बीच में फँस गई है सौम्या? क्या करे?" कुछ-कुछ छिपाते हुए बताया गया आधा-अधूरा, उनके बीच की चुप्पी को और सघन करता जाता है। अंततः वही होता है कि सारे तनावों व झंझावातों को समेटने के प्रयास में, वह उतना ही उलझती हुई अपनी शारीरिक क्षमता को नज़रअंदाज़ करती जाती है। वही उसके साथ धोखा कर देता है जिसे वह आश्रम में पीए हुए काढ़े से जोड़कर देखती है, लेकिन भीतर पलती कैंसर की बीमारी उसे ज़्यादा मौक़ा नहीं देती है। जब वह पलटकर अपने जीए जीवन को देखती है, उसे उतनी ही हताशा व निराशा ही मिलती है। सबने उसका दोहन ही किया, खुद उसके अपने माता-पिता ने भी। उस सूने और सन्नाटे भरे जीवन में उसकी प्यास बुझाने का कोई स्रोत है जिसको वह अपने सपने से हक़ीक़त में बदलते हुए देखकर अपना अंतिम सफ़र तय करती है। वह है अपनी बेटियों को कामयाब होते व अपने पास सिर्फ़ अपने लिए उनके होने की उपस्थिति उसे एक संतोष से भर देती है।

"आख़िर क्यों नहीं चाहता बेटा अपने पिता को? कौन-सी गाँठ है उसके मन में? पहले-पहले जब-जब उसके पिता बीमार होते थे, तब-तब सौम्या अमरीका में अपने भाई को फ़ोन करके उनकी बीमारी की ख़बर देती थी लेकिन उधर से हमेशा ठंडा ही जवाब आता। बाद में उसने फ़ोन करना भी बन्द कर दिया।" अंत में जब कोई चारा न बचे तब या तो उन्हें यूँ ही मरने के लिए लावारिस छोड़ दो, या फिर वही वृद्धाश्रम ही एक मात्र आश्रय स्थल बनता है। यहाँ भी सौम्या के नहीं रहने पर उनकी भी अंतिम परिणति यहीं ख़त्म होती है, जिससे बचने के लिए वह पूरी तरह अपनी ही बेटी का मानसिक व शारीरिक दोहन करते हैं बिना किसी लाग-लपेट के या उसकी हालत की परवाह किए। यह भी एक कड़वी सच्चाई सामने आती है कि आज सब चाहते हैं कि उनके बच्चे बाहर विदेश में ही पढ़ें, बेहतर जीवन जिएँ, जिसके लिए सारी तकलीफ़ें भी सहते हैं लेकिन जब वही बच्चे पलटकर न वापस आते हैं न उनकी सुध लेते हैं तो वही पीढ़ी आज के माहौल को कोसती है। वर्तमान को कोसने से पहले हमें अपने अतीत की ग़लतियों को भी देखना होगा जो हमने दिखावे के चक्कर या फ़ैशन की होड़ में खुद ही की हैं।

जिन स्थितियों से बाहर निकलने के लिए वह दोहरी ज़िन्दगी से समझौता करते हुए स्कूल में नौकरी करके अपने-आपको परिस्थितियों के हवाले नहीं करती है और एक बदलाव की लड़ाई लड़ते हुए और नई पीढ़ी में जागरूकता पैदा करती है और समाज की पुरानी मान्यताओं व नीतियों से संघर्ष करने की सोच को बढ़ावा देती है। उपन्यास में सौम्या नए स्कूल पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करने के लिए धर्म के नाम पर माफ़िया राज चलाने वालों की आँख की किरकिरी बनती है। स्कूल स्टाफ़ रूम के एक मात्र साथी विजय माही हैं जो अपनी मजबूरियों के बाद भी अकेले शिक्षा निदेशक व प्रिंसिपल की नीतियों के सामने सौम्या की तरह बिना डरे मज़बूती से उसका साथ देते हैं। विजय माही ने उम्मीद नहीं छोड़ी, अपने विचारों पर अडिग रहे। वह बच्चों को नए तरीक़े से पढ़ाते, समझाते रहे। उन्हें उम्मीद है एक-न-एक दिन ज़माना बदल जाएगा और उन जैसे बहुत सारे लोग होंगे जो ज़माने को बदलने में सारथी का काम करेंगे।" यही तो सौम्या ने भी चाहा था। विजय माही की आँखों से यह दृश्य एक दिन साकार होते देख ही लेगी, यह उसे पूरा विश्वास था।

उपन्यास का अंत जिस तरह दिखाया गया है उसमें उसका पति मॉल की दुकान में ज्योतिष बना बैठा आज के युवाओं का भविष्य बता रहा है जबकि उसकी अपनी बेटियाँ अपनी माँ की तरह अपनी मेहनत से पसन्द के क्षेत्र में कैरियर बना चुकी हैं। उसके माता-पिता 'ओल्ड एज होम' में अपना बुढ़ापा काट रहे हैं। स्कूल के अहाते में वर्तमान का हवन कुंड दिन-रात धधकता हुआ भारत का भविष्य गढ़ रहा है। यह है आज के भारत की बदलती तस्वीर। ❑

(कृति : 'दहन' (उपन्यास); लेखक : हरियश राय; प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; मूल्य : 450 रुपये ; पृष्ठ : 172)

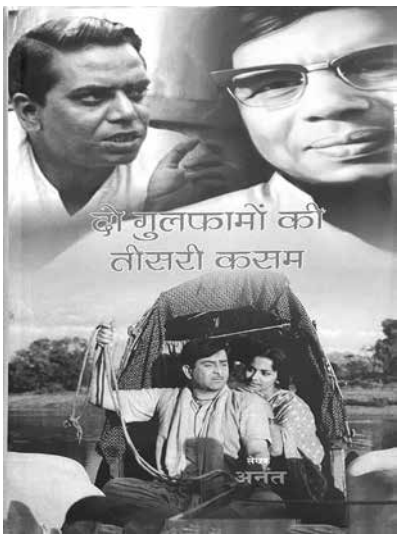
● मूल्यांकन-दो



रेणु और शैलेन्द्र
हिन्दी साहित्य और सिनेमा के दो गुलफ़ाम

इंद्रजीत सिंह

भारत में सिनेमा का फलक साहित्य से बहुत बड़ा है। निरक्षरता और ग़रीबी के कारण भी करोड़ों लोग साहित्य से कोसों दूर हैं। हिन्दुस्तानी जनता के लिए सिनेमा अलादीन के चिराग़ से कम नहीं है जो उन्हें छोटी आँखों से बड़े हसीन ख़्वाब देखने का मौक़ा देता है। करोड़ों सीधे-सादे, भोले-भाले भारतीयों के मनोरंजन की भूख मिटाता है। उनसे हमदर्दी जताता है, उन्हें अपना बनाता है, आग और राग का पाठ पढ़ाता है, गर्दिश में भी आसमान का तारा बनकर जगमगाने की प्रेरणा देता है। उन्हें दुख में मल्हार गाने की ताक़त देता है, उनकी अगुवाई और रहनुमाई करता है।



भारत में साहित्यिक कहानियों और उपन्यासों पर अनेक फ़िल्मों का निर्माण हुआ है जैसे 'गोदान','ग़बन','शतरंज के खिलाड़ी','गाइड', 'तीसरी कसम', 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा', 'संघर्ष' और 'सत्यकाम' आदि। इन फ़िल्मों में 'तीसरी कसम' शायद अकेली फ़िल्म है जिसे देखकर उसके लेखक का मन झूम उठा हो। मन्नू भंडारी ने 'आपका बन्टी' पर आधारित फ़िल्म को देखने के बाद निर्माता पर मुक़दमा कर दिया था। फणीश्वरनाथ रेणु की मार्मिक प्रेमकथा 'तीसरी कसम' अर्थात 'मारे गए गुलफ़ाम' कहानी पर आधारित 'तीसरी कसम' का निर्माण प्रसिद्ध गीतकार शैलेन्द्र ने किया था। फ़िल्म रिलीज़ से पहले शैलेन्द्र ने रेणुजी को यह फ़िल्म राजकपूर के निजी लघु थियेटर में दिखाई। फ़िल्म को देखकर रेणु ने 17 जून, 1966 को अपने गाँव के एक साथी बालगोविन्द विश्वास को बम्बई से एक पत्र लिखा–".. तस्वीर मुकम्मल हो गई है और भगवान की दया से ऐसी बनी है कि वर्षों तक लोग इसे याद रखेंगे। अपने मुँह अपनी तारीफ़ नहीं–कोई भी व्यक्ति यही कहेगा। 'सजनवा बैरी हो गए हमार' तो ऐसा बन गया है कि पुराने 'देवदास' के 'बालम आय बसो मोरे मन में' की तरह युगों तक गाया जाएगा। मैं ही नहीं, कई लोग ऐसे हैं जो इस गीत को सुनकर आँसू मुश्किल से रोक पाते हैं।"

रेणु, शैलेन्द्र और 'तीसरी कसम' पर आधारित लेखक अनंत की पुस्तक 'दो गुलफ़ामों की तीसरी कसम' एक दिलचस्प और पठनीय पुस्तक है।

पुस्तक की रोचक भूमिका फ़िल्म समीक्षक विनोद अनुपम ने लिखी है। लेखक अनंत ने इस पुस्तक को दस अध्यायों में बाँटा है-1. 'अजी मारे गए गुलफ़ाम', 2. 'कौन है हिरामन और हीराबाई', 3. ' फ़िल्मी चौखट पर तीसरी कसम', 4. 'इमेज मेकर्स', 5. 'रेणु के बोल, शैलेन्द्र के गीत', 6. 'फ़िल्मांकन का संघर्षमय सफ़रनामा', 7. 'टूटते-बिखरते सपनों की दास्तान', 8. 'जीता हुआ युद्ध : तीसरी कसम', 9. 'हिरामन के सपनों की हीराबाई', 10. 'ऐसे शहीद हुए शैलेन्द्र'। पहले अध्याय में अनंत ने रेणु की मूल कहानी 'तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफ़ाम' की संक्षिप्त चर्चा की है। दूसरे अध्याय में इस बात की चर्चा है कि रेणु ने हिरामन और हीरबाई जैसे अमर पात्रों को अपनी जीवन यात्रा में कहाँ खोजा। पाठकों को यह जानकार तसल्ली होगी कि हिरामन और हीराबाई कोई काल्पनिक पात्र नहीं हैं बल्कि हिरामन नाम का व्यक्ति रेणुजी की तीसरी पत्नी लतिकाजी के मायके में घरेलू सेवक के रूप में काम करता था। रेणु हिरामन की सादगी और भोलेपन से प्रभावित थे और रेणु की अपनी बैलगाड़ी को कुसुमलाल नामक गाड़ीवान चलाता था जो आँचलिक शब्दों का जीता-जागता शब्दकोश था। 'तीसरी कसम' कहानी का चरित्र हिरामन वास्तव में हज़ारीबाग़ के हिरामन और रेणु के गाड़ीवान कुसुमलाल का मिला-जुला रूप है और कहीं-कहीं रेणु का अपना व्यक्तित्व भी हिरामन के साथ एकाकार हो जाता है।

'रेणु के बोल और शैलेन्द्र के गीत' एक दिलचस्प अध्याय है जिसमें रेणु के गहन अध्येता लेखक अनंत ने रेणु और शैलेन्द्र की जुगलबन्दी का रोचक वर्णन किया है। अनंत लिखते हैं, "गीतों के बोल रेणु की मूल कहानी 'मारे गए गुलफ़ाम अर्थात तीसरी कसम' में चित्रित हैं। शैलेन्द्र ने मूल कहानी में चित्रित गीत के बोल में आगे के अंतरे को जोड़ा है और उसे मूर्त रूप दिया है। गीत को गढ़ने में शैलेन्द्र ने गाँव की भोली भावना, ग्रामीण जीवन की सादगी, ग्रामीण संस्कारों की शालीनता का सहारा लिया है। ग्राम्य जीवन के यथार्थ की अनुभूतियों से उपजे शब्दों की संवेदना में पिरोकर ऐसा अंतरा रचा है, मानो शैलेन्द्र ने ग्राम्य जीवन, संस्कृति, संस्कार और उसके सरोकार की आरती उतारी हो।..

पृष्ठ 52 पर जारी...

सम्पर्क : *ई-मेल : indrajeetrita61@gmail.com*

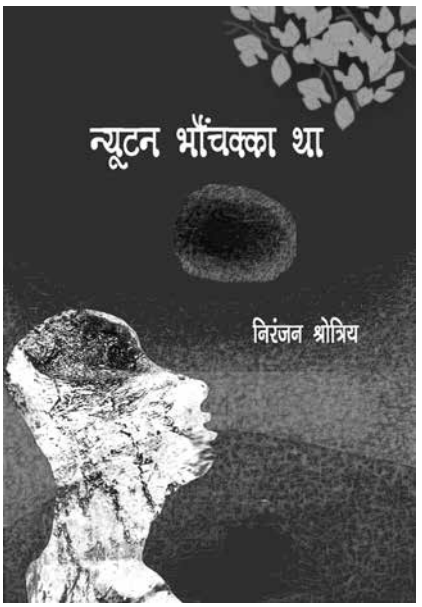
● मूल्यांकन-तीन



भरोसा बचाने की कोशिश करती कविताएँ

रोहित कौशिक

निरंजन श्रोत्रिय वनस्पति शास्त्र पढ़ाते हैं। वनस्पतियों की हरीतिमा उनके व्यवहार और रचनाशीलता में भी दिखाई देती है। वे बड़ी ही लगन के साथ युवा कवियों की कविताओं पर काम कर रहे हैं। निश्चित रूप से इस पहल और लगन के कारण स्वयं की रचनाशीलता के लिए समय निकालना मुश्किल होता है। बड़ी बात यह है कि इस प्रक्रिया के बावजूद उनके अंदर संवेदना की हरीतिमा मौजूद है। हाल ही में प्रकाशित उनका कविता-संग्रह 'न्यूटन भौंचक्का था' इस बात का प्रमाण है कि वनस्पतियों और संवेदनाओं की मिली-जुली हरीतिमा ने उनकी सृजनशीलता को और समृद्ध किया है। यह हरापन उनके खिलते हुए चेहरे पर तो दिखाई देता ही है, उनकी रचनाओं में भी प्रतिलक्षित होता है। अगर हम उनकी कविताओं में परम्परागत हरापन ढूँढने की कोशिश करेंगे तो हो सकता है कि हमें इस प्रयास में ज़्यादा सफलता हाथ न लगे। खुरदरे यथार्थ की ज़मीन पर परम्परागत हरियाली ढूँढने की कोशिश भी नहीं करनी चाहिए। प्रगतिशील मूल्यों के साथ हर हाल में ज़िन्दगी की संवेदना बचाए रखने की इच्छा में भी वह हरापन मौजूद होता है जिसे हम अक्सर देख नहीं पाते। कभी-कभी विभिन्न वातावरणीय कारणों से हरियाली के लिए ज़िम्मेदार पर्णहरित नष्ट होने लगता है। निरंजन श्रोत्रिय के जीवन-रूपी पौधे की पत्तियों में वह पर्णहरित हमेशा मौजूद रहता है, जो उन्हें लगातार ऊर्जा प्रदान करता रहता है।



निरंजन श्रोत्रिय अपनी कविताओं में अपरम्परागत भरोसा बचाने की काशिश भी करते हैं। अपरम्परागत भरोसा बचाने की यह कोशिश ही उनकी कविताओं की बड़ी ताक़त है। इस तरह की कविताएँ लिखने के लिए कवि को संवेदना के दूसरे स्तर पर पहुँचकर एक बँधी-बधाई लीक को तोड़ना पड़ता है। मेरा इशारा संग्रह की पहली ही कविता 'ज़रूरत भी नहीं है' की तरफ़ है। यह मार्मिक कविता समस्त परम्परागत मान्यताओं को उलटकर रख देती है। संग्रह में इस तरह की और भी कविताएँ मौजूद हैं। निरंजन श्रोत्रिय की विशेषता यह है कि वे बहुत ही सधी हुई कविताएँ लिखते हैं। नपे-तुले शब्दों में अपनी बात कहने की कला इस दौर में कम होती जा रही है। संग्रह की कविताएँ पढ़ते हुए स्वयं पाठक को भी यह महसूस होता है कि अनावश्यक विवरणों से कविताओं को बोझिल बनाने की कोशिश नहीं की गई है। कवि की इच्छा है कि दुनिया में तमाम बुरी ख़बरों को तत्काल प्रभाव से नष्ट हो जाना चाहिए। यह पूरा संग्रह ही बुरे समय में बुरी मंशा के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का एक दस्तावेज़ है। निश्चित रूप से संग्रह में रोज़मर्रा के मनोविज्ञान से जुड़ी हुई कविताएँ भी मौजूद हैं। हर रोज़ हम अपने सामान्य जीवन में जो कुछ सोचते और करते हैं, वह सब इन कविताओं में प्रतिबिम्बित हुआ है। जीवन से जुड़ी इन कविताओं को पढ़कर लगता है कि ये कविताएँ हमसफ़र की तरह हमारे साथ-साथ चल रही हैं।

'अम्माँ का बुद्धू-बक्सा' एक अलग भावबोध की कविता है। अक्सर टीवी को एक ऐसा 'बुद्धू-बक्सा' कहा जाता है जो हमारी सामाजिकता और पारिवारिक रिश्तों को निगल जाता है। अम्माँ बुद्धू-बक्से को इस दृष्टिकोण से नहीं देखतीं। अम्माँ के लिए बुद्धू-बक्सा उनके अकेलेपन का सच्चा साथी है। कवि जब यह कल्पना करता है कि अगर बुद्धू-बक्से में जान होती तो अम्माँ अपनी जायदाद इसी के नाम कर देतीं तो दरअसल वह इस कल्पना के माध्यम से बहुत कुछ कह जाता है। 'साँवली लड़की के लिए' शीर्षक कविता में कवि ने साँवलेपन के गौरव को दर्शाया है। निश्चित रूप से साँवलापन ग्लानि का नहीं बल्कि गौरव का विषय है। यह कविता एक तरफ़ गोरे रंग के दर्प को चूर-चूर कर देती है तो दूसरी तरफ़ यह भी प्रदर्शित करती है कि सच्चे अर्थों में साँवला रंग ही हमारी ज़िन्दगी का वास्तविक रंग है। 'गुरुत्व' शीर्षक से प्रकाशित छोटी कविता बड़ा अर्थ लिए हुए है, 'इस बार सेब/पेड़ से गिरा तो/हवा में ही लटका रहा/न्यूटन भौंचक्का था/तब उसने लिखा नया नियम/'पृथ्वी पर मौजूद/आततायियों की लालच-दृष्टि/पृथ्वी के गुरुत्व को/कम कर देती है।' 'लेडीज़ रूमाल' शीर्षक कविता में कवि लेडीज़ रूमाल के माध्यम से स्त्रियों के संघर्ष को लेकर कई सवाल उठाता है। निश्चित रूप से स्त्रियों का रूमाल छोटा होता है लेकिन उनका संघर्ष बड़ा होता है। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि इस प्रगतिशील

सम्पर्क : *ई-मेल : rohitkaushikmzm@gmail.com*

दौर में भी स्त्रियों का संघर्ष कम नहीं हुआ है। हालाँकि इस संघर्ष के बाद भी वे निराश नहीं हैं। कवि सवाल उठाता है कि लेडीज़ रूमाल मर्दों के रूमाल से आधा होने के बावजूद क्या स्त्रियों का पसीना और वेदना आधी होती है? सच तो यह है कि स्त्रियाँ अपने संघर्ष से ही जीतती हैं। तभी कवि कहता है, 'अब वह औरत सुखाएगी रूमाल को/और फहराएगी उसे हवा में/पताका की तरह।'

'ज़मानत' शीर्षक कविता इस दौर के ख़तरनाक यथार्थ की तरफ़ इशारा करती है। यह कविता सत्ता और न्यायतन्त्र को कठघरे में खड़ा करने का साहस करती है। संग्रह में प्रकाशित 'हाज़मा' शीर्षक छोटी कविता बहुत कुछ कह जाती है, "कैलाश पण्डित के खेत में उगे दाने/ करीम मियाँ अपने खेत में बोते हैं/लहलहा उठती है फ़सल जनाब/ इस अनाज को खाते ही/ हो जाता है कुछ लोगों का/ हाज़मा ख़राब।' 'वर्णमाला का सौन्दर्य' एक अद्‌भुत कविता है। बच्चों के मनोविज्ञान को समझकर किस प्रकार वर्णमाला का सौन्दर्य निखारा जाता है, यह इस कविता को पढ़कर पता चलता है। विडम्बना यह है कि इस दौर में बच्चों के दिमाग़ में घृणा के बीज बोए जा रहे हैं। वर्तमान समय में यह कविता और भी प्रासंगिक हो गई है।

निरंजन श्रोत्रिय प्रगतिशील चेतना के कवि हैं। उनकी प्रगतिशीलता खोखली नहीं है। वे प्रगतिशीलता के नारे नहीं लगाते बल्कि प्रगतिशीलता को सच्चे अर्थों में अपने जीवन में उतारते हैं। यही कारण है कि एक तरफ़ उनकी कविता पहले प्यार को भूल न मानकर 'जीवित बीज' कहने का साहस कर पाती है तो दूसरी तरफ़ असहमति को मधुर संगीत मानने से कोई गुरेज़ नहीं करती। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि इस दौर में असहमति को बहुत बड़ा अपराध बना दिया गया है। कवि इस तथाकथित अपराध के पीछे छिपी मानसिकता को बख़ूबी पहचानता है। यह मानसिकता केवल असहमति के मुद्दे पर ही नहीं बल्कि अन्य कई मुद्दों पर भी हावी होने का प्रयास कर रही है। अगर गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह मानसिकता हमारे साहित्य, समाज और राजनीति में अनेक रूपों में दिखाई देती है। दरअसल निरंजन श्रोत्रिय की कविताएँ अनेक स्तरों पर इस तरह की मानसिकता को ख़ारिज करने का प्रयास करती हैं। इन कविताओं में एक तरफ़ प्रकृति की सुखद उपस्थिति दिखाई देती है तो दूसरी तरफ़ प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ते दबाव के प्रति चिन्ता भी नज़र आती है। कवि कई कविताओं में सोशल मीडिया के खोखले आदर्शवाद पर प्रहार करता है। महिलाओं के संघर्ष को भी इन कविताओं में बख़ूबी दर्ज किया गया है। कुल मिलाकर इस कठिन दौर में यह कविता-संग्रह मानवीयता के प्रति हमारे भरोसे को और मज़बूत करता है। ❑

(कृति : 'न्यूटन भौंचक्का था' (कविता-संग्रह); कवि : निरंजन श्रोत्रिय ; प्रकाशक : आधार प्रकाशन, एस.सी.एफ़ 267, सेक्टर-16, पंचकुला-134113 (हरियाणा) ; पृष्ठ : 104; मूल्य : 120 रुपये)

हिन्दी साहित्य और सिनेमा

पृष्ठ 50 से आगे...

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि 'तीसरी कसम' के गीतों के आकाश अगर रेणु हैं तो शैलेन्द्र चाँद हैं।

पुस्तक के छठे अध्याय, 'फ़िल्मांकन का संघर्षमय सफ़रनामा' 'तीसरी कसम' के निर्माण से जुड़ी शुक्ल और कृष्ण पक्ष की सच्ची दास्तान है। शैलेन्द्र, बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, कैमरामैन सुब्रत मित्र सहित 'इमेज मेकर्स' के अन्य सदस्य शूटिंग के लिए पूर्णिया पहुँचे थे। बतौर रेणु "कैमरामैन सुब्रत मित्र ने पूर्णिया अंचल के लोगों के चलने–फिरने, बोलने-बतियाने के ढंग को चित्रबद्ध करने के लिए परिवार की महिलाओं का चलचित्र लिया था। तीन दर्जन बैलगाड़ियों की दौड़, आम बाग़ की ढलती हुई छाया, सिन्दूरी साँझ की पृष्ठभूमि में उड़ते हुए बगुलों की पंक्तियाँ... इन सारे दृश्यों को ग्रहण करते समय सुब्रत बाबू के चेहरे पर एक अद्‌भुत चमक खिल आती थी।"

फ़िल्म का मुहूर्त जनवरी 1961 में हुआ और प्रदर्शन सितम्बर 1966 में। छह महीने के अंदर फ़िल्म को पूरा करने का सपना साढ़े पाँच साल बाद पूरा हुआ। फ़िल्म के कलाकारों की तारीख़ का न मिलना, वित्तीय संसाधनों की कमी, बासु भट्टाचार्य का बिमल राय की पुत्री रिन्की से प्रेम विवाह और उससे उत्पन्न विवाद के कारण बासु का शूटिंग में उपस्थित न होना। वितरकों का कहानी के अंत को बदलने का दबाव आदि अनेक रोचक प्रसंगों का अनंत ने सुन्दर वर्णन किया है।

अंतिम अध्याय 'ऐसे शहीद हुए शैलेन्द्र' में 'तीसरी कसम' फ़िल्म की आत्मा की रक्षा करते-करते शैलेन्द्र ने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। रेणु को जीवनभर यह मलाल रहा कि यदि वह 'तीसरी क़सम' बनाने की सहमति शैलेन्द्र को नहीं देते तो शैलेन्द्र का असमय निधन न होता। रेणु ने लिखा भी, "शैलेन्द्र को शराब या क़र्ज़ ने नहीं मारा, वह एक धर्मयुद्ध में लड़ता हुआ शहीद हो गया।"

अनंत द्वारा कई वर्षों की मेहनत से लिखी गई पुस्तक 'दो गुलफ़ामों की तीसरी कसम' एक दिलचस्प और पठनीय पुस्तक है। साहित्य और सिनेमा के रसिकों के लिए सुन्दर उपहार है। पुस्तक में कुछ तथ्यात्मक ग़लतियाँ हैं, उम्मीद है अगले संस्करण में अनंत उन्हें दूर करने का प्रयास करेंगे- जैसे रेणु की कहानी का नाम 'तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफ़ाम' है जबकि अनंत ने पुस्तक का प्रारम्भ ही शीर्षक 'मारे गए गुलफ़ाम अर्थात तीसरी कसम' से करते हैं। 'तीसरी कसम' शब्द पहले आना चाहिए। यह भूल पूरी पुस्तक में बीस से अधिक बार हुई है। पुस्तक के पृष्ठ 101 में ज़िक्र है कि 'तीसरी कसम' का मुहूर्त 14 फरवरी, 1961 को पूर्णिया में हुआ। सही तिथि 14 जनवरी, 1961 है। अनंत लिखते हैं कि राजकपूर अपनी फ़िल्म 'मेरा नाम जोकर' के निर्माण में व्यस्त थे इसलिए शूटिंग की तारीख़ नहीं दे पाते, सही बात यह है कि राजकपूर उस समय 'संगम' के निर्माण में व्यस्त थे। 'तीसरी कसम' जुलाई 1965 में सम्पूर्ण हो गई थी। राजकपूर ने 1965 के अंत में 'मेरा नाम जोकर' की घोषणा की थी। 'तीसरी कसम' के पहले दो गाने 'सजन रे झूठ मत बोलो' और 'आ आ भी जा' की रिकार्डिंग अप्रैल 1961 में नहीं 1962 में हुई थी। इन तमाम भूलों के बावजूद लेखक अनंत की इस पुस्तक का खुले दिल से स्वागत होना चाहिए। ❑

(कृति : 'दो गुलफ़ामों की तीसरी कसम' ; लेखक : अनंत ; प्रकाशक : कीकट प्रकाशन, कुर थौल, प टना-804453 (बिहार) ; पृष्ठ : 240; मूल्य : 650 रुपये (हार्ड बाउंड)

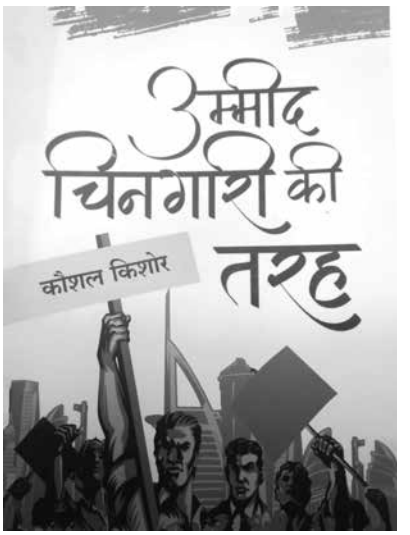
● मूल्यांकन-चार



कविता रहेगी उसके स्वप्न की तरह

जीवन सिंह

कौशल किशोर कविता और जनांदोलन की दुनिया का एक सुपरिचित चेहरा हैं। इस समय में जब शब्द और कर्म के बीच फाँक बढ़ती जा रही है तब भी कौशल किशोर जैसे लोग उस फाँक को मिटाने की मुहिम में लगे रहते हैं, यह जानकर आश्चर्यमिश्रित खुशी हुए बिना नहीं रहती। आज वे कर्म और चिन्तन की एकरूपता के उल्लेखनीय उदाहरण के रूप में देखे जाते हैं। वे जितना चिन्तन करते हैं उतना ही उसके अनुरूप उसे कर्म में उतारने की कोशिश भी। वैसे शब्द के साथ कर्म का रिश्ता, अलगाव और अजनबीपन को जी रही आधुनिक सभ्यता में धीरे-धीरे कमज़ोर होता गया है जिससे कविता का प्रसार भी सीमित हुआ है। कविता पारस्परिकता का नाम है। यदि जीवन में पारस्परिकता का क्षरण होगा तो कविता भी लोगों से दूर चली जाएगी। कविता हमेशा से अपने समय की संस्कृति रही है, आज भी है, वह तभी जीवित रहती है जब व्यक्ति के सामाजिक सरोकार ज़िन्दा रहते हैं। कविता किसी फ़ैक्ट्री से पैदा हुआ माल या उत्पाद नहीं है, उसका रिश्ता मानवीय सृजन से है और मानवीय सृजन का उसके सामूहिक-नैतिक बोध से और उसकी नित्य नई होती सृजनात्मक संस्कृति से। उसके आचरण से भी। जितना उसका नैतिक बोध जीवित रहता है उतनी ही कविता फूलती-फलती है। भक्ति काल की पूरी कविता उसके आचरण के साथ ज़िन्दा रही। वहाँ जो कविता में था, वह कवि के जीवन से बहुत दूर नहीं था। जो कविता में था वही जीवन में भी था। जो जीवन में था, वही कविता में भी था लेकिन सभ्यता के विकास के साथ इन दोनों के बीच अंतराल बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता जीवन से दूर जाती रही। इन दोनों के बीच आते रहे व्यक्ति के निजी जीवन के सरोकार, उसके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।



कविता व्यक्ति का समूह के साथ रिश्ते और नैतिक बोध का दूसरा नाम है। इस वजह से भी लोग किसी आधुनिक वस्तुगत विचारधारा की बात करने से भी अब कतराते देखे जाते हैं। कौशलजी की बात इसके विपरीत है। वे काव्य सृजन एक नई सामाजिक-सामूहिक नैतिकता की स्थापना के लिए ही करते हैं कि लोग उनकी कविता से उस सच्चाई को जानें जो झूठ के अनेक आवरणों के नीचे छिपी हुई है। यद्यपि इस प्रक्रिया में उनके ऊपर तात्कालिकता बहुत हावी रहती है। वह सर्वकालिकता से अपना रिश्ता जोड़ने में कठिनाई का अनुभव करती है। इसीलिए वे दूसरे लोगों को भी चिन्तनधारा से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उनका चिन्तन हमेशा से क्रियासम्पन्न रहा है। उनकी तरह के लोग बहुत कम होते हैं जो अपने चिन्तन को कर्म तक पहुँचाने की भूमिका में सतत् संलग्न रहते हैं। यहाँ पर यह लिखने का तात्पर्य सिर्फ़ इतना ही है कि ऐसे व्यक्तित्वों की कविता कुछ अलग तरह की होती है। उसकी कला व्यक्तिवादी रचनाकारों के सोच से भिन्न होती है। उसका सौन्दर्यशास्त्र भी इसीलिए कुछ भिन्न प्रकृति का होता है। उनकी कला में हमेशा कलाहीनता का अहसास होते रहना स्वाभाविक है। उनकी कविता की प्रकृति मोर्चे की कविता की तरह बन जाती है। उसके भीतर एक संघर्षशील योद्धा की तरह एक विचार योद्धा की भूमिका देखी जा सकती है। वे एक संवेदनशील संस्कृतिकर्मी की तरह अपनी कविता से पाठक को जगाने की भूमिका में रहते हैं। इस वजह से वे अपना काव्य केवल विद्वान् पाठक के लिए ही नहीं रचते वरन् उसे भारतीय कविता की श्रुति परम्परा से जोड़कर अपने सामान्य श्रोताओं को खुद सुनाते भी हैं। पढ़ने और सुनाने की कला में थोड़ा-सा फ़र्क़ आ जाता है। पढ़ने के साथ सुनाने वाली कविता का मुहावरा वैसा ही नहीं रह जाता जैसा केवल पढ़ने वाली कविता का होता है। इसलिए कौशलजी की कविता सिर्फ़ किताबी नहीं है। वह क्रियाधर्मी अधिक है। उनकी कविता जन-कविता के नज़दीक पहुँच जाने वाली एक खुली किताब की तरह की कविता है। जिस कवि का ध्यान श्रुति और पठित दोनों पर रहता है उसकी कला में भी उसे वैसा ही संतुलन बनाना और रखना पड़ता है। ऐसी ही कला कौशल किशोर की कविता में मिलती है। वे अपनी भाषा में भी किसी तरह की वक्रता लाने का प्रयास नहीं करते। वे अपनी बात को सीधे-सीधे रखने में विश्वास रखते हैं। इसलिए उनकी कला में सपाटबयानी की भी भूमिका बनी रहती है।

'उम्मीद चिनगारी की तरह' शीर्षक से 2022 में प्रकाश में आने वाले कौशलजी के इस तीसरे संग्रह में इसी शीर्षक से एक कविता भी मौजूद है। इससे पहले इनकी कविताओं के दो संग्रह 'नई शुरुआत' और 'वह औरत नहीं महानद थी' शीर्षक से प्रकाशित हो चुके हैं। 'उम्मीद चिनगारी की तरह' संग्रह की पहली कविता का शीर्षक है– 'भेड़िया

सम्पर्क : *ई-मेल : jeevanmanvi19@gmail.com*

निकल आया है माँद से' जिसकी शुरुआत करते हुए कवि कहता है कि यह जो राजनीति में हो रहा है वह बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं रह गया है। यह पूरी कविता आज की एक राजनैतिक कविता है जो देश में चल रही वर्तमान निरंकुशता की राजनीति के प्रतिरोध में अपना बयान दर्ज कराती हुई उन स्थितियों को सामने लाती है जो साफ़-साफ़ उम्मीदों को हताशा में बदल रही है और जिनसे घना अंधकार और घुटन पैदा हुई है। इस संग्रह में कौशल किशोर की कविताओं के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में मौजूदा राजनैतिक माहौल में लिखी गई कविताओं को कवि ने नाम दिया है— 'भेड़िया निकल आया है माँद से।' इसकी पहली कविता इसी शीर्षक से है जिसे कवि ने सांस्कृतिक प्रतिरोध अभियान के तहत कई मंचों से पढ़ा और सुनाया है। भेड़िया यहाँ लोकतान्त्रिक सत्ताओं के लगातार हिंसक होने का प्रतीक बनकर कविता में आया था। पिछली सदी के साठोत्तर काल में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने इस प्रतीक का उपयोग सर्वाधिक किया क्योंकि उस समय में भी लोकतान्त्रिक सत्ता का हिंसक रूप सामने आने लगा था। कौशलजी ने भी यह प्रतीक सर्वेश्वरजी से लेकर इसके प्रयोग से वर्तमान सत्ता की बढ़ती हिंसक प्रवृत्ति का पर्दाफ़ाश करते हुए उसके आंतरिक चरित्र पर खुला आक्रमण करते हुए लिखा है—

'समरसता का अद्‌भुत मेल है / क्रूरता और दरियादिली का /
निरंकुशता और लोकतन्त्र का / मिला-जुला खेल है /
यहाँ रक्त सने हाथ हैं / तो मसीहाई अंदाज़ हैं
मालिक का ग़ुरूर है / तो प्रधान सेवक का नूर है
पहले यह मारता है / फिर मुआवज़ा बाँटता है।'

यहाँ पर शब्द और अर्थ की सत्ता में कोई दुराव नहीं है। कौशलजी की कविता सवाल उठाने वाली प्रतिरोध की कविता का एक सटीक उदाहरण भी है जो उनकी आँखों के सामने घटित होते हुए दिख रहा है, ऐसे भी लोग हैं जो उसे स्वीकार कर चुके हैं किन्तु कौशलजी का कवि उसे जन-विरोधी मानकर सवाल उठाने से गुरेज़ नहीं करता। वे लिखते हैं—

'मेरे सवाल उसका पीछा करते हैं / वह भाग रहा है
मेरे सवाल उसका पीछा कर रहे हैं / वह भागता रहेगा
मेरे सवाल उसका पीछा करते रहेंगे।'

सच है कि ये सवाल ही होते हैं जो किसी ताक़तवर की निरंकुशता पर लगाम लगा सकते हैं और लगाते भी हैं। सवाल ही किसी देश की लोकतान्त्रिक ज़मीन को पुख़्ता करने के काम आते हैं। पत्रकारिता का काम सवाल करना ही तो होता है। इसीलिए तो लोकतन्त्रों में पत्रकारिता को चौथे स्तम्भ का दर्जा दिया गया। कौशल किशोर की ये कविताएँ सवालों से भरी पड़ी हैं और यही इनका महत्व भी है। इनमें एक सच्चे पत्रकार का गुण मिलता है जो अपनी किसी भी तरह की संकीर्णताओं को त्यागकर हमेशा इंसानियत के पक्ष में रहकर अपना काम करता है।

इन कविताओं की अंतर्वस्तु इस बात का सबूत है कि कैसे कवि अपने समय के इतिहास को दर्ज करता चला जा रहा है। इस तरह से ये वर्तमान को एक बनते हुए इतिहास की तरह से प्रस्तुत करती हैं। कवि के सामने राजनैतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक तौर पर जो कुछ मानवीय-अमानवीय घटित हो रहा है वह सब यहाँ कविता के रूप में पढ़ा जा सकता है। जन-सरोकारों को व्यक्त करने वाली एक-एक घटना-परिघटना को कवि यहाँ कविता के रूप में दर्ज करता जाता है। उनकी कविताओं के शीर्षकों से भी यह सब जाना जा सकता है। पहले खण्ड की राजनैतिक कविताओं में– 'भेड़िया निकल आया है माँद से', 'देशभक्ति के लिए', 'मेरे सवाल', 'देशद्रोही कहीं का', 'झूठ बोलो', 'उन्हीं पर टिका है जनतन्त्र', 'फ़ासिस्ट', 'वह हामिद था', 'वह रोए तो किस पर- वह हँसे तो किस पर', 'गोली', 'गाली और आवाज़', 'अँधेरा ही अँधेरा', 'मुग़लसराय', 'गाँधी', 'जीत का नशा', 'विकास', 'किसान मार्च', 'बार्डर पर किसान', 'हमारी सरकार', 'नीम बेहोशी में एक स्वप्न', 'उम्मीद चिनगारी की तरह' आदि अनेक कविताएँ हैं जिनके शीर्षक ही बतला देते हैं कि कवि ने अपने समय की राजनीति को देखा ही नहीं है वरन उसकी अमानवीय और हिंसक होते जाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध अपना खुला प्रतिरोध भी दर्ज कराया है। उसका यह प्रतिरोध ही उसे कविता बनाता है। देखने की बात यह है कि उनका यह प्रतिरोध निष्क्रिय किताबी नहीं है। इनमें कहीं उद्‌बोधन है, कहीं मुक्ति के ऐतिहासिक सन्दर्भ हैं, कहीं आह्वान हैं, कहीं व्यंग्य है तो कहीं मानव-विरोधी स्थितियों का सीधा-सीधा प्रतिकार। इसके बावजूद कहीं हताशा का नाम भी नहीं है। यह दुःख और त्रासदियों के भार से दबी हुई कविता नहीं है। दुःख और त्रास का कितना ही गहरा दबाव क्यों न हो, कवि के मन का जोश कभी उससे प्रभावित नहीं होता। कौशलजी के यहाँ उम्मीद की चिनगारी कभी बुझती नहीं। यह दरअसल आंदोलन के बीच से पैदा हुई कविता है, जो खुद तो जोशीली है ही, अपने पाठक की हताशा को भी दूर कर उसमें जोश और उत्साह भरने का काम करती है। इन कविताओं की एक ख़ासियत यह भी है कि कवि की आँख हमेशा अपने निशाने पर रहती है। वह अपने निशाने से थोड़ा भी इधर-उधर नहीं होती। इसलिए वह सपाट होने के ख़तरे से भी नहीं बच पाती और बात को विस्तृत रखने के लोभ से भी। उसके भीतर इतना क्षोभ भरा हुआ है कि वह उसको शब्दों में पूरी तरह से जब तक बाहर नहीं निकाल देते तब तक उन्हें संतोष नहीं होता। इस प्रक्रिया में वह कई बार कविता की आवश्यकता से भी अधिक कह जाते हैं। पाठक के लिए कुछ भी नहीं छोड़ते।

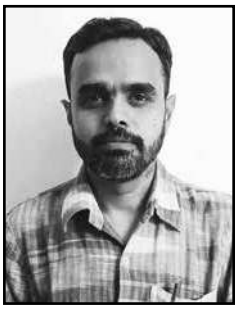
इस संग्रह की सबसे विलक्षण कविता 'वह हामिद था' को कहा जा सकता है जिसमें कवि की कल्पना का आधार इस समय की सत्ता-राजनीति की वे वस्तुगत परिस्थितियाँ हैं जिनमें किसी विरोधी धार्मिक संज्ञा को उसके वास्तविक सत्य से हटाकर केवल राजनैतिक अर्थ में रूपान्तरित कर एक तरह की प्रतिशोध की भावना के आधार पर मानवीय जीवन-स्रोत को अवरुद्ध करने की कोशिशें की जाती हैं। प्रेमचन्द की मशहूर और बेहद मार्मिक कहानी 'ईदगाह' को केन्द्र में रखकर यहाँ उस सच्चाई को उद्‌घाटित किया गया है कि यदि आज की परिस्थितियों में कोई हामिद नाम का बच्चा किसी मेले से अपनी दादी को चिमटा ख़रीद कर लाते हुए किसी संकीर्ण व्यक्ति को मिल जाता तो वह अर्थ का अनर्थ करते हुए उसके चिमटे को एक आतंकवादी के अस्त्र में बदलकर उस बच्चे को ही आतंकवादी घोषित करा देता। इस प्रक्रिया में प्रेमचन्द जैसे मानवतावादी साहित्यकार को भी एक अपराधी के कटघरे में खड़ा कर दिया जाता। कवि की यह आशंका इसलिए सही है कि साहित्यकारों के साथ भी सत्ता ऐसा सुलूक करने से नहीं चूकती। कवि के अनुसार—

'प्रेमचन्द भी उनके कटघरे में थे/ उनसे भी सवाल था/
कि क्यों नहीं उन्हें भी कर दिया जाए/ साहित्य से बेदख़ल/
उनके ख़िलाफ़ भी गम्भीर आरोप थे/ कि उन्होंने क्यों लिखी कहानी 'ईदगाह'/ लिखना ही था तो वे लिखते कथा अयोध्या की / राजा रामचन्द्र की विजयगाथा।'

ऐतिहासिक दृष्टि से इस समय उत्तर-आधुनिक और उत्तर-

पृष्ठ 57 पर जारी...

● मूल्यांकन-पाँच



तरल संवेदनाओं की कविताएँ

पराग मांदले

नीलोत्पल समकालीन कविता के उन हस्ताक्षरों में से हैं, जिनकी कविताएँ अपनी एक विशिष्ट पहचान रखती हैं। उनकी कविताओं को बड़ी आसानी से भीड़ से अलग चीन्हा जा सकता है। प्रकृति उनकी कविताओं में यूँ घुली रहती है जैसे सागर के पानी में नमक। अपने एक हद तक संश्लिष्ट गठन, सूत्रात्मकता, शब्दों से परे अर्थों की व्यंजना करती उनकी कविताओं को समझने में कई बार मुश्किल होती है मगर एक बार समझ आ जाए तो जीवन के सारतत्त्व का एक पूरा वातायन खोल देती हैं।

नीलोत्पल की कविताओं की तुलना हम बहुत आसानी से भारतीय शास्त्रीय संगीत से कर सकते हैं। जिस तरह शास्त्रीय संगीत का पूरा रस लेने के लिए आपको सुरों की, रागों की, उनके आरोह-अवरोह की चाहे पूरी जानकारी न हो, मगर उसमें यदि आपकी रुचि हो और आप में रसग्रहण की क्षमता हो तो आप उसका आनन्द ले सकते हैं। इसके लिए कम-से-कम आपके कानों का पूरी तरह से तैयार होना ज़रूरी है, वैसी ही तैयारी की माँग नीलोत्पल की कविताएँ भी करती हैं।



नीलोत्पल के 'समय के बाहर सिर्फ़ पतझर है' की कविताओं को पढ़ते हुए ज़रूरी नहीं कि एक ही पाठ में आप उन कविताओं की पंक्तियों के पीछे छुपे अर्थ या मंतव्य तक पहुँच जाएँ। आपको उनसे बार-बार दो-चार होना पड़ेगा, फिर भी जब तक आप कवि के मानसिक धरातल से तादात्म्य न स्थापित कर लें, ज़रूरी नहीं कि उन्हें समझने में आपको कामयाबी मिले। सच तो यह है इस संग्रह की अधिकांश कविताओं की पंक्ति-दर-पंक्ति व्याख्या सम्भव नहीं है। इन्हें इनकी समग्रता और निरन्तरता में देखने पर ही इनमें छुपे हुए निहितार्थ से आपका साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।

कई बार ये कविताएँ आपको कोई निश्चित अर्थ नहीं देतीं, बस सूत्र देती हैं। कई बार ये सूत्र एक-दूसरे में गूँथे हुए होते हैं। जैसे-जैसे आप इन्हें खोलते जाते हैं, ये किसी आइने की तरह होते जाते हैं, जिनमें आप अपने अस्तित्व और अपने परिवेश के कई अनसुलझे रहस्यों के अक्स देख पाते हैं।

प्रकृति और उसका व्यापार इन कविताओं के स्थायी नायक हैं। कविता-संग्रह के शीर्षक से लेकर अधिकांश कविताओं में प्रकृति अपने विभिन्न रूपों में अपने तमाम आवेग-संवेगों के साथ उपस्थित है। ये कविताएँ प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन स्थल यानी किसी जंगल की तरह हैं। ऊपरी तौर पर देखने पर हमें जंगल में कोई तारतम्यता नज़र नहीं आती। जंगल के पेड़, पौधे, झाड़ियाँ अपनी निजता और सहजता में कभी पंक्तिबद्ध नहीं होते मगर ध्यान से देखें तो उनकी अस्त-व्यस्तता और बिखराव में एक लय होती है, जिसमें किसी भी जंगल का असली सौन्दर्य छुपा हुआ होता है।

इस संग्रह की पहली कविता से ही कवि एक नैरेटिव सेट कर देता है। इस पहली कविता में तीन बातें ऐसी हैं जो लौट-लौटकर पूरे संग्रह की बहुत-सी कविताओं में जगह बनाती हुई दिखाई देती हैं। इनमें सबसे पहली तो प्रकृति है। बिलाशक हम नीलोत्पल को प्रकृति का प्रवक्ता कवि कह सकते हैं। इस कविता की अंतिम दो पंक्तियाँ हैं, 'आप अमरता के लिए बेचैन हैं/ जबकि कीड़े रोज़ मरकर दुनिया बनाते हैं।' इन पंक्तियों में कीड़ों का उल्लेख अनायास ही नहीं है। कीड़े-मकोड़े इस पृथ्वी के सबसे पुराने बाशिन्दों में से एक हैं, कीड़े प्रकृति के सबसे पुराने ही नहीं सबसे ज़रूरी बाशिंदे भी हैं। कवि इनके माध्यम से बार-बार प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर जीवन जीने की वकालत करता दिखता है। 'चींटियाँ' शीर्षक कविता में भी कवि का यही संदेश है कि प्रकृति के सहज नियमों की संगति में जिया जीवन इस पृथ्वी के बचे रहने की सम्भावनाओं को बढ़ाता है, उसके भीतर एक आश्वस्ति का भाव भरता है जबकि प्रकृति के अविवेकी अंधाधुन्ध दोहन से पृथ्वी के भीतर नष्ट हो जाने का भय व्यापता है।

कीड़े-मकोड़ों-चीटियों के अलावा एक शब्द और है जो आश्चर्यजनक रूप से इस संग्रह की कविताओं में बार-बार दोहराया जाता है, और वह है मृत्यु। पहली कविता में कीड़ों के रोज़ मरने के उल्लेख से शुरू हुई यह यात्रा अबाधित रूप से पूरे संग्रह भर चलती रहती है। अलग-अलग सन्दर्भों में 'मृत्यु' शब्द बार-बार इन कविताओं में प्रयुक्त होता हुआ दिखता है। इसका एक कारण शायद यह भी है कि प्रकृति में गहरे पैठा इन कविताओं का रचयिता निसर्ग के अनवरत चलते चक्र में मृत्यु की भूमिका को न सिर्फ़ समझता है, बल्कि उसकी अनिवार्यता से भी पूरी तरह से परिचित है। वह जानता है कि जीवन प्रकृति के ख़िलाफ़ बार-बार चुनौती खड़ा करता है और अप्राकृतिक हो जाता है, मगर मृत्यु हर हाल में प्रकृति के अस्तित्व को अपने प्रश्नहीन समर्पण से बरक़रार रखती है।

'नश्वर चीज़ों को ही अमरता का वरदान है' शीर्षक कविता में कवि इस बात को स्पष्ट करता है—

'जीवन कोई वरदान नहीं/ रेत घड़ियाँ ख़ामोश आवाज़ में चलती, हैं/ उनकी टिक-टिक वही सुनते हैं/ जिन्होंने अपने कान मृत्यु से सटाए।'

सम्पर्क : *ई-मेल : paragmandle@gmail.com*

मृत्यु अलग-अलग सन्दर्भों में इसी तरह से कई कविताओं में आती हैं। यथा–

'प्रेम अजन्मा था/लेकिन पहाड़ जानते थे प्रेमियों की मृत्युएँ
गिरने के क्षणांत सारी मृत्युएँ बदल जाती हैं/ रहस्यों में
शान्त जंगल मरे पशु की प्रार्थना सभा है
मृत्यु अपनी ख़ामोशी में सबसे सुन्दर है...।'

इन कविताओं में बार-बार मृत्यु आती है, मगर वह यहाँ किसी भी तरह से नकारात्मक अर्थछटा लिए नहीं आती है। वह एक नए जीवन की सम्भावनाओं का उद्घोष करते हुए आती है। कवि के लिए कोई भी अंत दरअसल एक नई शुरुआत की भूमिका भर है।

प्रकृति और मृत्यु के बाद प्रेम इस संग्रह की कविताओं का एक प्रमुख तत्त्व है। चूँकि किसी भी तरह की पूर्णता अंततः निरन्तरता में बाधक होती है और प्रकारांतर से प्रकृति की योजना के ख़िलाफ़ जाती है। शायद इसीलिए इस संग्रह के पहले हिस्से की कविताओं में जहाँ भी प्रेम आया है, अपने अधूरेपन की उदात्तता में अपनी सार्थकता व्यक्त करता हुआ दिखता है। 'प्रेम की प्रतिज्ञाएँ अधूरी रहती हैं' शीर्षक की कविता को पढ़ते हुए लगता है मानो यह अधूरे रह गए प्रेम की स्मृतियों को जगाती-जीती कविता है।

इसी तरह 'पृथ्वी अलय पर अधिक सुन्दर है' शीर्षक कविता में कवि कहता है–

'प्रेम में कोई विखण्डन नहीं/ सारी अलिखित चिट्ठियों पर/ गिरती हैं बूँदें/ एक-दूसरे के लिए हम अजनबी बने रहते हैं/ मिटे हरूफ़ प्रेम को अधिक व्यग्र करते हैं।'

पुनः इसी तरह 'संगति' शीर्षक कविता के अंत में प्रेम का यह अधूरापन अपनी पूरी मार्मिकता से उभर कर आता है–

'तुम दिशाओं की अनन्तता हो/ और मेरा चरम भटकाव/ आह! हमारे होने की यही संगति है।'

'असंख्य प्रेमी' शीर्षक कविता में कवि प्रेम को अपने प्रिय पात्र कीड़ों से जोड़कर एक नया आख्यान रचता हुआ दिखता है। उसके मुताबिक प्रकृति के सबसे छोटे बाशिंदे भी जिनका जीवनचक्र एक रात की छोटी-सी अवधि में पूरा हो जाता है और सुबह जिनके अस्तित्व का कोई नामोनिशान भी नहीं मिलता, प्रेमियों को अपने प्रिय पर मर-मिटने का संदेश दे जाते हैं।

ऐसा नहीं है कि विरह ही प्रेम से सम्बन्धित कविताओं का स्थायी भाव है। पहले हिस्से में अपवादस्वरूप 'उन क्षणों में' जैसी कुछ कविताएँ हैं, जिसमें प्रेम के व्यापार से संतृप्त मन की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर तरीके से हुई है –

'समुद्र और जीवन से ज़्यादा मौन/ तुममें खो जाने में था/ उन क्षणों में था/ जब तुम्हें छू रहा था/ आह! समय ईथर है/ तुम्हारे बन्द होठों की तरह/ सबसे चुप और थरथराता।'

लेकिन संग्रह का दूसरा हिस्सा प्रेम के साहचर्य से उपजी संवेदनाओं की मीठी अनुभूतियों से लबरेज़ है। यहाँ प्रेम का वह उदात्त रूप है जहाँ प्रेम बड़े-बड़े वादों-इरादों और त्याग-समझौतों में नहीं बँधता। छोटी-छोटी बातें, घटनाएँ, अभिव्यक्तियाँ यहाँ प्रेम के गहरे स्वरूप को उभारती हैं। जैसे 'अदृश्य लिपियों में प्रेम निवेदन' शीर्षक कविता में कवि कहता है–

'कितना अंतरंग स्वर है तुम्हारी हँसी का/ मैं ध्यान से पढ़ते हुए उठ गया/ फिर भी यह आरोप नहीं बनता तुम पर/ कि इस भद्दे समय में/ तुमने कैसे बचाया/ किताब और हँसी के बीच/ प्रेम का वह मामूली क्षण।'

दरअसल पूरे संग्रह में कवि जीवन के अलग-अलग दृश्यों से प्रेम के उन मामूली क्षणों को खोजता/पकड़ता और शब्दों में बाँधने की कोशिश करता दिखाई देता है, जो जीवन को परिपूर्ण चाहे न बनाते हों, मगर समृद्ध ज़रूर करते हैं।

कवि का प्रेम अनूठा है। वह प्रेम को प्रचलित प्रतीकों में खोजने से इंकार करते हुए प्रकृति की मामूली-सी दिखने वाली दृश्यावलियों को गहरे पैठता है..... वह अपने परिवेश की सामान्य चीज़ों से अपने बिम्ब उठाता हुआ प्रेम का एक अलग वितान सारी कविता के ऊपर पसार देता है। उपरोक्त कविता के तीसरे हिस्से में कवि कहता है–

प्रेम कितना भर देता है कि/ तुम साँस लेती हो दीवारों के भीतर/ बाहर मौसम को दुरुस्त करता है/ तुम्हारा उच्छवास/ बैंगनी हवा फैलाती है तुम्हारे होठों पर/ अदृश्य लिपियों में प्रेम निवेदन'..... और इस कविता का अंत इस तरह से होता है, 'तुम देखती हो/ क्षितिज तक दीवारें/ और उनमें खुलती हुई असंख्य खिड़कियाँ।'

ये कविताएँ प्रेम के, साहचर्य के, साथ के एक व्यापक परिदृश्य में तरल संवेदनाओं की अनेक खिड़कियाँ खोलती हैं, जिनमें से आश्वस्ति की, समाधान की, परिपूर्णता की बयार बहती हुई प्रवेश करती है।

यह दरअसल एक कवि और एक मनुष्य के रूप में नीलोत्पल के सजगता के साथ विकसित होते जाने की परिचायक है। किसी भी कवि के लिए अपनी भाषा, अपने मुहावरे, अभिव्यक्ति के अपने औज़ार तलाशना और तराशना आसान नहीं होता। इस संग्रह को पढ़ते हुए जब आप इसके अंत तक आते हैं तो आप महसूस करते हैं कि नीलोत्पल अपनी सतत् साधना के फलस्वरूप दुर्बोध अभिव्यक्तियों की कारा से खुद को मुक्त करने में सफल हुए हैं। हालाँकि प्रकट रूप से इस संग्रह की कविताओं को अलग-अलग हिस्सों में बाँटा नहीं गया है, मगर आपकी सजग पाठक दृष्टि उस अदृश्य विभाजन को पकड़ने से चूक नहीं करेगी। संग्रह के दूसरे हिस्से की कविताओं में कवि अपने समय को, अपने परिवेश को और अपने जीवन में उपस्थित प्रेम के प्रति संतोष और आभार के भावों को अधिक स्पष्टता से दर्ज करता हुआ दिखाई देता है। आप इनमें चाहे अपने समय में घट रही घटनाओं का सीधा-सीधा ब्यौरा न खोज सकें, मगर अपने समय की प्रवृत्तियों को, हलचलों को, उद्वेगों को, चिन्ताओं को, ख़तरों को इन कविताओं में आसानी से पा सकते हैं। ख़ासकर संग्रह की आख़िरी 24 भागों में बँटी कविता 'युद्ध और शान्ति' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसमें युद्ध की वजहों, ख़तरों और परिणामों की व्यापक विवेचना की गई है। यह इस कवि की काव्य-यात्रा का एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु भी है।

नीलोत्पल एक ऐसे कवि हैं जो अपनी तमाम गूढ़ता के साथ सरलता की साधना कर रहे हैं। इसी संग्रह की एक कविता 'अव्यक्त शब्द पाठक के लिए होते हैं' दरअसल नीलोत्पल की कविताओं को समझने की कुंजी है। यह कविता आपको व्यक्त शब्दों के फेर में पड़ने से आगाह करते हुए व्यक्त शब्दों की ऊबड़-खाबड़ पगडंडी से होकर अव्यक्त भाव या अर्थ तक पहुँचने का सूत्र थमाती है-

'एक शब्द को लेते ही/ छूट जाते हैं दूसरे, तीसरे और चौथे/ अपनी बनाई जगह में/ पहला, दूसरे, तीसरे और चौथे का विरोधाभास है/ इस पर कभी भी हो सकती है बहस/ ज़रूरी नहीं कि/ कहा ही जाए पहला शब्द माक़ूल था/ कहने को कितना भी कम है/ मेज़ चारों पायों पर ही संतुलन पाती है/ लेकिन ऐसा शब्द के साथ नहीं/ शब्द छूटने के लिए ही होते हैं/ कहने का आशय/ जो पढ़ा नहीं गया/ उसे हम पढ़ लें अपनी तरह से/ अव्यक्त शब्द पाठक के लिए होते हैं।' ❑

(कृति : 'समय के बाहर सिर्फ़ पतझर है' (कविता-संग्रह); कवि : नीलोत्पल ; प्रकाशक : ज्ञानोदय प्रकाशन, 18-इंस्ट्रियूश्नल एरिया, भीष्म पितामह मार्ग, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 ; पृष्ठ : 176 ; मूल्य : 235 रुपये)

मैं अंत तक कवि...

पृष्ठ 37 से आगे...

मैं दशकों से हिन्दी में मौलिक वैचारिक साहित्य के अभाव का रोना रोता रहा हूँ। इधर कम-से-कम समाजशास्त्र और सम्बन्धित क्षेत्रों में, हिन्दी में कुछ बहुत अच्छा और शोधपरक लिखा-खोजा जा रहा है। इसमें विशेषतः 'प्रतिमान' जैसी पत्रिका की बड़ी भूमिका है।

आप स्मृति के धनी हैं। लगभग सत्तर साल के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को आप किस तरह देखते हैं?

उसमें स्वयं बहुत लिप्त, रसा-बिंधा होने के कारण मैं वस्तुनिष्ठ आकलन कर सकूँ, यह सम्भव नहीं लगता। यह परिदृश्य स्थिर या विजड़ित नहीं रहा है, काफ़ी बदला है पर हर बार बेहतर नहीं हुआ है। उसमें विचारधारा और विचारधारा-विरोध दोनों सक्रिय और रूढ़ हुए हैं। संस्कृति-समीक्षा की अवनति हुई है। रचना की निर्भीक नवाचारिता से आलोचना बराबर पिछड़ती गई है। साहित्य और कलाओं के बीच सम्बन्ध और सम्वाद बहुत शिथिल हुए हैं। हिन्दी अंचल में कलाओं का क्षरण हुआ है। हिन्दी में ज्ञान-साहित्य की मौलिकता घटी है। साफ़-सुथरी हिन्दी लिखने और बोलने वाले तेज़ी से घट रहे हैं। हिन्दी मध्यवर्ग साहित्य और कलाओं के मानवीय संस्कार और संस्पर्श से बेगाना हुआ है।

लेकिन इस सबके बावजूद यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि हिन्दी अंचल की सबसे बड़ी उपलब्धि उसका साहित्य ही है। स्वयं हिन्दी समाज इसे अब तक नहीं पहचान पाया है, यह एक विडम्बना है। हिन्दी कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में ऐसा पर्याप्त है जो अखिल भारतीय स्तर पर खरा और समकक्ष है।

हिन्दी अंचल की अनेक संस्थाएँ, जिनमें विश्वविद्यालय, अकादमियाँ, संस्थान और परिषदें आदि शामिल हैं, साहित्य और उसके लिए समझ-जगह बनाने से विरत होते चले गए हैं। सिर्फ़ पत्रिकाओं ने साहित्य को सामने लाने, उस पर ध्यान दिलाने और केन्द्रित करने, युवा प्रतिभा को जगह देने, सम्वाद और विचार-विनिमय को बनाए रखने में अपनी भूमिका बख़ूबी निभाई है। अत्यन्त प्रतिकूल सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक-आर्थिक परिस्थिति के बावजूद लेखक और साहित्य ने अपना साहस और मनोबल, अपनी गहरी मानवीयता और मूल्यवत्ता बनाए रखा है, यह अनदेखा नहीं जाना चाहिए। ❑

कविता रहेगी उसके...

पृष्ठ 54 से आगे...

पूँजीवादी समय होने के बावजूद यह मध्यकाल से भी ख़राब समय का उदाहरण है। जिसमें एक बच्चे को भी उसके विधर्मी होने के अपराध में मौत के घाट उतारते हुए फ़ख़्र का अनुभव किया जाता है। इस तरह से इन कविताओं में एक पीछे लौटे हुए अमानवीय होते समय की एक अंतर्कथा को भी पढ़ा जा सकता है। अमानवीय होती व्यवस्था, सत्ता और समाज के द्वन्द्वों, तनावों और विडम्बनाओं के दस्तावेज़ की तरह ये कविताएँ कहीं विवरणों में दर्ज हैं, तो कहीं घटनाओं और लघु जीवन कथाओं में, जिनमें संकीर्ण राजनैतिक दृष्टि की काली स्याही में लिखे ऐसे भित्ति-आलेख हैं जिनको पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाना सामान्य-सी बात है।

एक वैज्ञानिक समाजवादी विकल्प के लिए एक कटिबद्ध कर्मयोद्धा का संकलन है यह जिसमें कविता की मध्यवर्गीय कृत्रिम कला के प्रति कोई आग्रह नहीं है। अपनी बात को अपने ढंग, लहजे और अंदाज़ में रख देना ही कौशलजी की कला है। इससे पहले संग्रह में स्त्री-जीवन पर केन्द्रित कविताएँ थीं जिनमें कहा गया, 'वह औरत नहीं, महानद थी।' ज़िन्दगी के रूपकों से मिली हुई एक बहती हुई भाषा का रचाव उनके यहाँ है। सबसे बड़ी बात यह है कि भीषण झंझावातों की हताशा का वातावरण होने के बावजूद उनके यहाँ उम्मीद की चिनगारियाँ बची हुई हैं। इस संग्रह में दो खण्ड हैं। पहला खण्ड 2014 से आए राजनैतिक परिवर्तन के इंगित करते विचारों से परिपूर्ण है।

विचार से मनुष्य जीवन बनता ही नहीं, विकसित भी होता है। जो समाज जितना अधिक विचार करता है वह उतना ही अधिक सभ्य और संस्कृतिवान समाज की ओर अग्रसर होता है। एक सोया हुआ या पश्चगामी समाज ही विचार नहीं करता। जहाँ तक कविता में विचार और विचारधारा की भूमिका का सवाल है, उसे कवि ने यहाँ अपनी जीवन दृष्टि के रूप में बरता है क्योंकि उसके बिना ज़मीन पर लिखी हुई इबारत को पढ़ पाना सम्भव नहीं होता।

इस संग्रह के दूसरे खण्ड की कविताओं का सम्बन्ध 2020-21 में आई कोरोना जैसी भयानक महामारी की विभीषिका से है। कवि जिसका स्वयं भुक्तभोगी रहा है लेकिन इसका महत्व इस तथ्य में है कि कवि की उम्मीद को न मौजूदा राजनैतिक निरंकुशता का माहौल तोड़ पाया है और न ही उक्त महामारी की विभीषिका। ये कविताएँ अपने कथ्य के स्तर पर बहुत मूर्त और स्पष्ट हैं लेकिन इनमें भी वे सभी तरह की विडम्बनाएँ कवि के निशाने पर रही हैं जो आधुनिक जीवन विवेक की बजाय अपने अंधविश्वासों को वर्तमान पर लादती हैं। इस अवधि में उसने जो विसंगतियाँ और विडम्बनाएँ देखीं और अनुभव कीं, उनको कविताओं में लाकर आज के मनुष्य की उस असंवेदनशीलता और संकीर्णता को उजागर करने का काम भी किया है जो उसे एक इंसान होने की संज्ञा से बहुत दूर रखती हैं। कोरोना जैसे वायरस की भयावहता सबने महसूस की, उसका वर्णन करते हुए कवि ने एक जगह पर लिखा है—

'दोस्त माफ़ करना मैं नहीं पहुँच पा रहा हूँ / अपने कन्धे में ही मेरा कन्धा समझना / यह समय ऐसा है जिससे घिरे हैं हम / इससे निकलना मुश्किल / अपने अंदर के मनुष्य को बचाना मुश्किल / इस मुश्किल से बाहर आना तो और भी मुश्किल / लेकिन इस सबके बावजूद यहाँ कोई हताशा नहीं है।/ एक ही रास्ता है इन स्थितियों से प्रतिरोध का रास्ता और वही उम्मीद का रास्ता भी है/ भले ही वह चिनगारी की तरह है।'

इस उम्मीद का सबूत इस काव्यांश में देखिए—

'कवि रहे, न रहे / कविता रहेगी / उसके स्वप्न की तरह।' ❑

(कृति : 'उम्मीद चिनगारी की तरह' (कविता-संग्रह); कवि : कौशल किशोर ; प्रकाशक : रुद्रादित्य प्रकाशन, 109, एच/आर/3-एन/ओपीएस नगर, कालिंदीपुरम, प्रयागराज-211011 ; पृष्ठ : 144 ; मूल्य : 225 रुपये)

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास (खण्ड-2)



प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : ताराचन्द
पृष्ठ : 570
मूल्य : 415 रुपये

'भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास,' खण्ड-2 का पुनर्मुद्रण हुआ है। प्रख्यात इतिहासकार ताराचन्द की भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन की कहानी चार खण्डों विभक्त है। दूसरे खण्ड में 19वीं शताब्दी के दौरान भारत पर ब्रिटिश शासन के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक प्रभाव का वर्णन किया गया है।

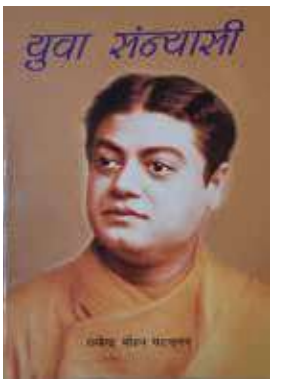
विख्यात इतिहासकार ताराचन्द द्वारा भारत के जटिल इतिहास की एक विराट और असाधारण परिघटना, मुक्ति संग्राम पर लिखी गई है। दूसरे खण्ड के प्राक्कथन में ही ताराचन्द स्पष्ट कर देते हैं कि स्वतन्त्रता आंदोलन के अंतिम वर्षों में राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिनिधियों को स्वयं ही यह स्पष्ट नहीं था कि उनके अभीष्ट उद्देश्य क्या हैं और उन्हें कैसे प्राप्त किया जाए? इसमें ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ ही प्रारम्भ हुए प्रतिरोधों का वर्णन-विश्लेषण है। जब तक 1857 के विप्लव तक पहुँचता है तो स्पष्ट हो चुका होता है कि 1857 का विद्रोह कोई अचानक अप्रत्याशित घटना नहीं थी। इसके आधारभूत कारण थे।

पुस्तक के पहले खण्ड में मुग़ल साम्राज्य के पतन और विनाश के साथ तत्कालीन सामाजिक संगठन, राजनैतिक प्रणालियों, आर्थिक परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक जीवन की चर्चा की गई है। दूसरा खण्ड मुख्यतः 1857 के विप्लव की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालता है। तीसरे खण्ड में कांग्रेस की स्थापना के बाद भी आर्थिक और वैचारिक स्थितियों की व्यापक चर्चा के कारण इतिहास राजनैतिक केन्द्रित होने में बचा रहा। चौथा खण्ड उस काल पर केन्द्रित है जिस दौरान राजनैतिक घटनाओं का ज्वार आया था। इसमें राजनीति की कारक शक्तियों को सामने रखने पर ही सही, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य उभरता है।

'स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास' पुस्तक की विशेषता है कि यह हर काल के इतिहास की मुख्यधारा का ही चित्रण है। इस पुस्तक में दशकों की सामग्री समाहित है। यह पुस्तक पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है। ❑

(प्रस्तुति : **ऋतुश्री**)

युवा संन्यासी



प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : राजेन्द्र मोहन भटनागर
पृष्ठ : 186
मूल्य : 365 रुपये

भारत सरकार ने 1984 में 12 जनवरी को 'राष्ट्रीय युवा दिवस' घोषित कर महान चिन्तक, समाज सुधारक, युवाओं और सभी आयु वर्ग के प्रेरणा स्रोत एवं भारतवर्ष के युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द की स्मृति को अक्षुण्ण बना दिया। सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग ने इस अद्वितीय सन्त के जीवन की संक्षिप्त झलक अपनी पुनः प्रकाशित पुस्तक 'युवा संन्यासी' के द्वारा प्रस्तुत की है। यह संस्करण इस पुस्तक का संशोधित संस्करण है। पुस्तक 27 अध्यायों के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द के जन्म उनके जिज्ञासु जीवन-आचरण, रामकृष्ण परमहंस से भेंट एवं अनन्यता, रामकृष्ण के देहावसान के बाद की यात्राएँ एवं प्रसंग, स्वामी विवेकानन्द की शिकागो यात्रा, रामकृष्ण मठ की स्थापना, स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक अनुभव एवं उनके देहावसान तक के सभी प्रसंगों को न्यूनाधिक मात्रा में समेटती चलती है।

पुस्तक युवा नरेन्द्रनाथ के स्वामी विवेकानन्द बनने के प्रसंग का बहुत मार्मिक विवरण देती है। एक माता के लिए उसकी युवा संतान का उसके समक्ष संन्यासी बनने की इच्छा जताना और अपने प्रिय पुत्र की इच्छा का सम्मान करते हुए उसे अनुमति देना यह केवल एक माता का हृदय ही कर सकता है। विश्वनाथ दत्त और भुवनेश्वरी देवी को प्राणों से भी प्रिय थे स्वामी विवेकानन्द। सम्पन्नता में रहते हुए भी उससे अछूता जीवन चुनना और अपने आध्यात्मिक चयन का निष्ठा से वहाँ करना, यही वह गुण था जिसने नरेन्द्रनाथ को विवेकानन्द बनाया।

लेखक ने अपने अथक प्रयासों से इस पुस्तक को मूर्त रूप दिया है। अपने कहन के कलेवर में यह पुस्तक कहानी और लघु उपन्यास का मिला-जुला आस्वाद देती है। प्रसंगों और घटनाक्रमों के वर्णन की शैली पुस्तक को रोचक और पठनीय बनाती है। लेखक के सन्दर्भ-प्रसंग से शुरू हुई यह पुस्तक आद्यान्त पाठक के मनोजगत में आध्यात्मिक भावजगत का संरोपण करने में पूर्णतः सक्षम पुस्तक दर्शन के अध्येताओं के साथ-साथ सभी आयु वर्ग के पाठकों के लिए एक संग्रहणीय प्रकाशन है। ❑

(प्रस्तुति : **शुभ्रा सिंह**)

आज़ादी का अमृत महोत्सव

शीघ्र आ रहा है...

भारत 2023

**भारत के प्रांतों, केंद्रशासित प्रदेशों,
भारत सरकार के मंत्रालयों और विभागों तथा
नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की
आधिकारिक जानकारी देने वाला**

वार्षिक संदर्भ ग्रंथ

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :
फोन : 011-24367260
ई-मेल : businesswng@gmail.com
हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए
कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स,
लोधी रोड नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

@publicationsdivision @DPD_India @dpd_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (डीएस) – 42/एमपी/2022–23–24 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू. (डी एन)–49/2021–23

Postal Regn. No. DL (DS) - 42/MP/2022-23-24

Licenced U (DN) - 49/2021-23 to post without pre-payment at RMS Delhi

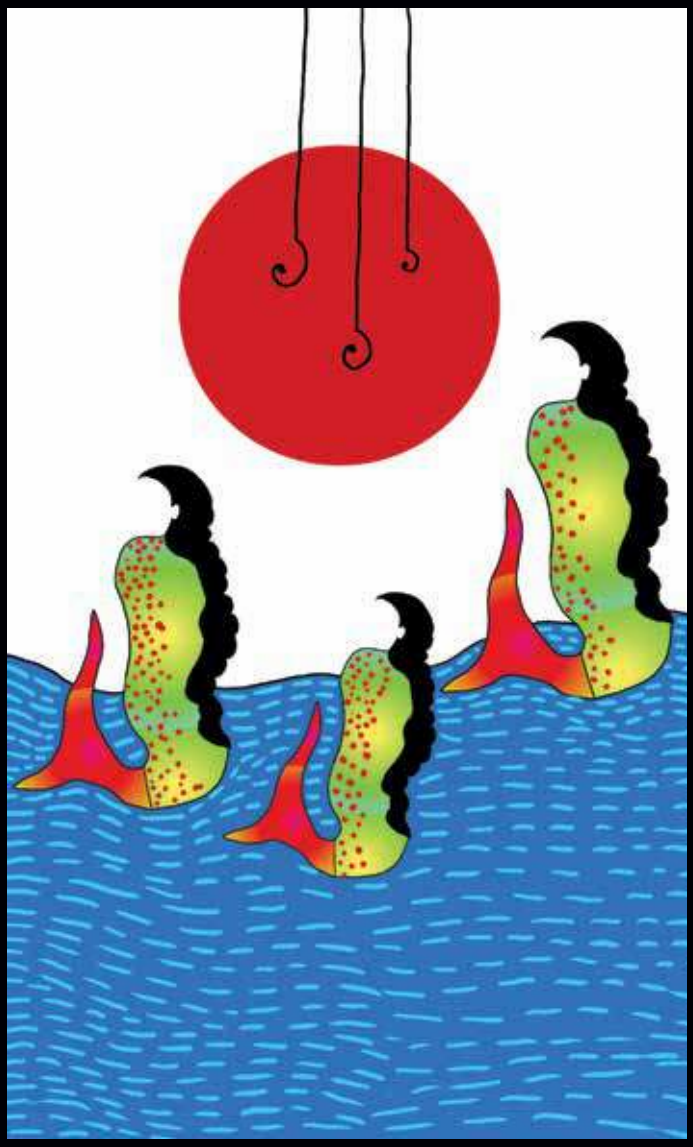
दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Delhi Postal RNI 701/57

● 10 दिसम्बर 2022 को प्रकाशित

● 21–22 दिसम्बर 2022 को डाक द्वारा जारी

● वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : अनुपमा भटनागर, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003 से प्रकाशित।

संपादक : फरहत परवीन